रीतिकालीन काव्य की आलोचना प्रक्रिया

(इलाहाबाद विश्वविद्यालय की डी० फिल् उपाधि के लिए प्रस्तुत)

शोध-प्रबन्ध

शोधकर्त्री :

कु० मधुबाला श्रीवास्तव, एम० ए०

हिन्दी विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय
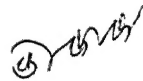
इलाहाबाद

निर्देशक :

डा० किशोरी लाल

अवकाश प्राप्त वरिष्ठ प्राध्यापक

हिन्दी विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय,

इलाहाबाद

दिसम्बर १९९३ ई०

प्रमाण-पत्र

प्रमाणित किया जाता है कि कु० मधुबाला श्रीवास्तव ने इलाहाबाद विश्वविद्यालय से 'रीतिकालीन काव्य की आलोचना प्रक्रिया' विषय पर मेरे निर्देशन में अगस्त १९९० से दिसम्बर १९९३ तक की अवधि में अपना शोध-कार्य पूर्ण किया है। इनका कार्य सराहनीय रहा है। मैं इनके कार्य से पूर्णतया सन्तुष्ट हूं। मैं इनके उज्ज्वल भविष्य की कामना करता हूं।

(डा० किशोरीलाल)
हिन्दी विभाग
इलाहाबाद विश्वविद्यालय
इलाहाबाद।

भूमिका

रीति समीक्षा प्रारम्भ से ही एक ओर जहां प्रशंसात्मक कोटि में आती रही वहाँ दूसरी ओर उसके साथ निन्दात्मक दृष्टि भी जुड़ी हुई थी। प्रशंसा के सम्बन्ध में जहां बहुत से रीति कवियों के सम्बन्ध में प्रशस्तियां इस कथन की साक्षिणी हैं, वहां भक्तिकाल में गोस्वामी तुलसीदास और निर्गुण कवि सुन्दरदास ने नरकाव्य, प्रशस्ति-काव्य, शृंगारी काव्य की कटु आलोचना की। वहीं रीतिकाल में भी रीति कवियों की आलोचना भूषण ने राष्ट्रीय चेतना के समानान्तर शृंगारिक चेतना के विरुद्ध की —

" ब्रह्म के आनन ते निकसे ते अत्यंत पुनीत तिहुं पुर मानी ।
राम युधिष्ठिर के बरने बालमीकिहु व्यास के संग सो हानी ।
भूषन यों कलि के कवि राजन राजन के गुन पाय नसानी ।
पुन्य चरित्र सिवा सरजा-सर न्हाय पवित्र भई पुनिबानी ॥

किन्तु शृंगारिक प्रवृत्ति और जीवन की नैतिक मान्यताओं के पारस्परिक विरोध के कारण रीतिकाव्य के सम्बन्ध में विवादेषणा का क्षेत्र आज तक बनता रहा। द्विवेदी युग के पूर्व भारतेन्दु काल तक रीतिकालीन शृंगारिक अनुभूतियाँ और उसके काव्य-वैभव पर पुरानी काव्यधारा से जुड़े हुए कविगण उसे अपनाते रहे, दूसरी ओर द्विवेदीयुगीन नैतिकता और

जीवन मूल्यों पर बल देने वाली दृष्टि ने रीतिकाव्य को बहुत महत्वपूर्ण नहीं समझा। आधुनिक काव्य-चेतना के उत्तरोत्तर प्रस्फुटन के साथ ही रीतिकाव्य के प्रति अधिकांश समीक्षकों की आस्था और अनुराग धीरे-धीरे घटने लगा। फलतः द्विवेदी युगीन इतिवृत्तात्मक शैली की रचनाओं का भवन रीतिकालीन प्रवृत्तियों के भग्नावशेष पर निर्मित हुआ। यद्यपि इतिवृत्तात्मक शैली के विरोध में छायावादी या रोमांटिक शैली की रचनाएं प्रकाश में आयीं अवश्य, किन्तु इन छायावादी कलाकारों ने भी अपने ग्रन्थों की भूमिकाओं में रीतिकालीन शृंगारिक काव्यों की पूर्णरूपेण कुत्सा की। इस कुत्सा की पराकाष्ठा पन्त जी के 'पल्लव' की भूमिका में स्पष्ट रूपेण देखी जा सकती है। रीतिकाव्य की जिस सौन्दर्य चेतना और ऐंद्रियता की पन्त आदि रोमांटिक कवियों ने निन्दा की थी। उसकी झलक प्रकारान्तर से प्रसाद, पन्त, निराला आदि की रचनाओं में भी दृष्टिगत हुई। प्रसाद का 'आंसू' और निराला की 'जूही की कली' शीर्षक रचनाएं हमारे कथन का ज्वलन्त प्रमाण हैं।

प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध पांच अध्यायों में विभक्त है, जिसमें रीतिकाव्य विषयक आलोचना का वैकासिक ढंग से विवेचन प्रथम बार किया गया है। इस शोध-प्रबन्ध के प्रथम अध्याय में रीति समीक्षा के उस स्वरूप पर विचार किया गया है जिसका विकास आगे चलकर तुलनात्मक, सैद्धान्तिक

और व्यावहारिक समीक्षा के रूप में हुआ । इस प्रकार रीति प्रक्रिया की समीक्षा का बीजारोपण हमें पूर्व मध्यकाल और उत्तर मध्यकाल दोनों में ही देखने को मिलता है । उत्तर मध्यकाल में यह समीक्षा दृष्टि प्रशस्ति से कुछ आगे बढ़ी और संस्कृत काव्य शास्त्रों के आधार पर गुण दोष विवेचन को भी अपनाया । यही नहीं, आचार्य श्रीपति ने रीतिकाव्य के शास्त्रीय विवेचन के परिप्रेक्ष्य में आचार्य केशवदास और ब्रह्म आदि कवियों की रचनाओं में दोष विवेचन और शब्दों के प्रयोग के औचित्य पर सम्यक् रूपेण विचार किया । इसी क्रम में आचार्य ग्वाल ने अपने काव्यदूषण ग्रन्थ में हिन्दी रीतिकवियों के काव्य में प्राप्त अनेकश: दोषों पर विचार किया ।

ग्रन्थ के द्वितीय अध्याय में भारतेन्दुयुगीन रीतिसमीक्षा की प्रक्रिया के स्वरूप पर विचार किया गया है । चूंकि भारतेन्दु युग हिन्दी का नवजागरण युग कहा जाता है और इस काल में साहित्य के प्राय: सभी विधाओं का स्फुरण और विकास हुआ । इसके साथ ही प्रथम बार रीति समीक्षा का खड़ीबोली में सूत्रपात हुआ । इसके पूर्व रीति समीक्षा का स्वरूप प्रशस्ति के अतिरिक्त ब्रजभाषा गद्य टीकाओं में बहुत देखने को मिलता, विशेषतया केशव की रसिकप्रिया, कविप्रिया और बिहारी सतसई की अनेक टीकाओं में रीति समीक्षा की प्रक्रिया की दृष्टि अन्तर्हित है ।

शोध- प्रबन्ध के तृतीय अध्याय में द्विवेदी युगीन रीति समीक्षा की

प्रक्रिया पर सम्यक् रूपेण विचार किया गया है। वस्तुत: द्विवेदी युग में रीतिसमीक्षा के दो रूप मिलते हैं। प्रथम रीति समीक्षा की प्रक्रिया का तुलनात्मक रूप दूसरा रीति समीक्षा का पाश्चात्य एवं भारतीय समीक्षा के परिप्रेक्ष्य में प्रस्तुत रूप। प्रथम समीक्षा के अन्तर्गत मिश्रबन्धु, पं० कृष्णबिहारी मिश्र, लाला भगवानदीन, लोकनाथ द्विवेदी, शिलाकारी और पद्मसिंह शर्मा का नामोल्लेख किया जाता है।

चतुर्थ अध्याय में शुक्लयुगीन समीक्षा की दृष्टियों पर विचार किया गया है। द्विवेदी युग के दूसरे समर्थ आलोचक रामचन्द्र शुक्ल कहे गये हैं। इन्होंने प्रथम बार भारतीय और पाश्चात्य दृष्टियों का विनियोग करते हुये रीतिकाव्य की समीक्षा को एक नया रूप हमारे सामने प्रस्तुत किया। नि:सन्देह शुक्ल जी की दृष्टि नितान्त मौलिक और परम्परा अमुक्त थी। उनकी तद्विषयक विवेचनात्मक दृष्टियां बड़ी ही तर्क-सम्पुष्ट और उनकी शास्त्रनिष्ठ प्रतिमा का ज्वलन्त प्रमाण है। फिर भी तुलसी की नैतिक मान्यताओं के जिस प्रतिमान से आचार्य प्रवर ने रीति समीक्षा का स्वरूप निर्धारित किया उसके आचार्य द्विवेदी जी की भांति उनकी बड़ी ही कठोर और कड़ी दृष्टि का परिचय हमें मिलता है। जीवन और जगत से अधिक न जुड़ पाने वाले काव्य के प्रति शुक्ल जी बहुत सहमत नहीं थे। अत: उन्होंने अपने ' चिन्तामणि ' ग्रन्थ में रामचरितमानस और बिहारी-सतसई के अस्तरीय अन्तर को पूर्णतया स्पष्ट करने की चेष्टा की है।

पंचम अध्याय में रीति समीक्षा प्रक्रिया को हमने शुक्लोत्तर समीक्षा प्रक्रिया की अभिधा दी है। इस शुक्लोत्तर समीक्षा के अन्तर्गत रीतिकाव्य के समर्थक और प्रबुद्ध समीक्षक डा० नगेन्द्र का नामोल्लेख किया जाता है। वस्तुत: डा० नगेन्द्र ने प्रथम बार द्विवेदी युग से लेकर शुक्ल युग तक रीतिकाव्य के समीक्षात्मक दृष्टिकोण को बड़ी ही सहृदयता और सहानुभूति के साथ जांचने का प्रयास किया है। डा० नगेन्द्र ने प्रथम बार मनोविज्ञान और सौन्दर्यवादी दृष्टि का विनियोग करते हुए रीतिकाव्य की समीक्षा के अन्तर्गत द्विवेदी युगीन नैतिक मान्यताओं की कुण्ठा का बहुत ही स्पष्टता के साथ विरोध किया और यह उनकी रसवादी और साहित्यिक दृष्टि थी जिसमें साहित्य को जीवन के उदात्त आदर्शों और आयुष्मक चिंता से पृथक् रखकर स्वतन्त्र रूपेण विवेचित किया गया है। डा० नगेन्द्र ने रीतिसाहित्य की महत्ता और उसकी उपयोगिता के सम्बन्ध में एक विशिष्ट सीमा तक जिन तथ्यों का उद्घाटन किया है, वे वास्तव में बहुत ही विवेक सम्पृक्त और उनकी गम्भीर दृष्टि का इससे परिचय भी मिलता है।

शुक्लोत्तर समीक्षा के अन्तर्गत डा० बच्चन सिंह ने भी डा० नगेन्द्र जी की ही समीक्षा सरणियों का ही खुलकर अवलम्ब ग्रहण किया। `रीतिकालीन कवियों की प्रेमव्यंजना` और `बिहारी नवमूल्यांकन` के

अन्तर्गत डा० बच्चन सिंह ने अपनी मनोवैज्ञानिक दृष्टि को विश्लेषित करने का श्लाघ्य प्रयत्न किया ।

शुक्लोत्तर परम्परा से जुड़े हुए आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र ने रीतिकालीन रचनाओं को शुक्ल जी की तुलना में अधिक रसग्राहिता की दृष्टि से देखने और समझने का प्रयास किया । `बिहारी की वाग्विभूति` और `हिन्दी साहित्य का अतीत` के द्वितीय खण्ड में आचार्य मिश्र की रीति समीक्षा विषयक सन्तुलित दृष्टि का परिचय हमें मिलता है । शुक्लोत्तर समीक्षा के दूसरे समर्थ आलोचक आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी कहे गये हैं, जिन्होंने छायावादी रोमांटिक शैली के काव्यों से प्रभावित होने के कारण इस प्रकार की रचनाओं को बहुत सहृदयता के साथ ग्रहण नहीं किया । समाजवादी दृष्टि सम्पन्न शुक्लोत्तर पीढ़ी के अन्य समीक्षक डा० रामविलास शर्मा हैं जिन्होंने नगेन्द्र आदि के कथित रीतिसमीक्षा विषयक दृष्टिकोण का प्रतिवाद किया । वस्तुत: समाजवादी यह दृष्टि रीतिकालीन सौन्दर्य चेतना और उसकी रसात्मक अनुभूति के धरातल को पूर्णतया ग्रहण करने में अक्षम सिद्ध हुई । रीति समीक्षा की इस प्रक्रिया में उनकी एकांगिता की दृष्टि ही प्रकाश में आयी । शुक्लोत्तर पीढ़ी के अन्य समीक्षकों में डा० छैलबिहारी गुप्त `राकेश` का भी नामोल्लेख किया जा सकता है । उन्होंने अपने प्रथम शोध-प्रबन्ध के अन्तर्गत रसशास्त्र का मनोवैज्ञानिक अध्ययन प्रस्तुत किया है और डी०लिट्० उपाधि के लिए अपने

दूसरे शोध- प्रबन्ध नामक नायिका भेद का अध्ययन के अन्तर्गत रीति कवियों पर लगाये गये विशिष्ट आक्षेपों का उन्होंने समुचित उत्तर देने का प्रयास किया है।

प्रस्तुत शोध- प्रबन्ध को आकार देने के पूर्व हमने चार प्रकार की सामग्री का उपयोग और विनियोग किया है—

(१) नामधारी एवं अनामधारी सूक्तिकारों द्वारा प्रस्तुत सूक्तियों एवं प्रशस्तियों का प्रयोग

(२) अस्फुट रूप में लिखे गये माधुरी, सुधा आदि में प्रकाशित निबन्ध और इसके अतिरिक्त भारतेन्दुयुगीन सम्पादित रीति-ग्रन्थों में इंगित रीति समीक्षा विषयक दृष्टि का विनियोग

(३) रीति साहित्य में समय- समय पर प्रस्तुत किये गये शोध-प्रबन्धों का उपयोग

हमारे शोध प्रबन्ध के पूर्व रीति साहित्य के अनुसंधान की श्रृंखला में जिस महत्वपूर्ण ग्रन्थ की चर्चा की जाती है वह है डा० रामशंकर शुक्ल `रसाल` कृत `हिन्दी काव्यशास्त्र का विकास` यह शोध प्रबन्ध सन् १९३७ में स्वीकृत हुआ है। परन्तु इसमें काव्य-शास्त्र के प्रत्येक अंग का सांगोपांग विवेचन न होकर अधिकांश विषय अलंकारों की सूक्ष्म विवेचना से अधिक सम्बन्धित है। रीतिकाव्य के अनुसंधान की दिशा में अधिक महत्वपूर्ण ग्रन्थ

डा० भगीरथ मिश्र की हिन्दी काव्यशास्त्र का इतिहास है। डा० ओमप्रकाश शर्मा कृत रीतिकालीन अलंकार साहित्य और डा० ओमप्रकाश कृत हिन्दी अलंकार साहित्य का भी उल्लेख किया जा सकता है। इन दोनों ग्रन्थों में रीतिकाव्य शास्त्रीय दृष्टि के साथ ही लेखक ने सौन्दर्य शास्त्रीय दृष्टि आदि का भी अपने विवेचन के अन्तर्गत विनियोग किया है।

अधिक महत्वपूर्ण और नई दृष्टियों का समावेश करने वाले डा० नगेन्द्र का नाम गौरव के साथ लिया जाता है। डा० नगेन्द्र ने रीति काव्य की भूमिका तथा देव और उनकी कविता के अन्तर्गत सर्वप्रथम मनोविज्ञान, सौन्दर्यशास्त्र और फ्रायड के सिद्धान्तों का समुचित उपयोग किया है। इसमें नगेन्द्र जी की शास्त्रनिष्ठ प्रतिभा के साथ ही काव्य की गहराई को पकड़ने वाली उनकी सूक्ष्म दृष्टि का भी परिचय हमें मिलता है।

वस्तुत: रीतिसमीक्षा पर शोध प्रबन्ध के रूप में तीन दृष्टियों पर विचार हुआ है—

(१) शास्त्रीय दृष्टि से

(२) काव्य सौन्दर्य की दृष्टि से

(३) कवि के व्यक्तित्व और कृतित्व की दृष्टि से

यों प्रारम्भिक शोध- प्रबन्ध में काव्यशास्त्रीय दृष्टि से ज़रूर विचार

किया गया, किन्तु संस्कृत का आधार बनकर तुलनात्मक रूप से हिन्दी काव्यशास्त्र का विवेचन और निरूपण करने वालों में डा० नगेन्द्र के साथ ही डा० सत्यदेव चौधरी कृत ` रीति परम्परा के प्रमुख आचार्य ` एक प्रमुख ग्रन्थ माना जाता है।

कवि या आचार्य के व्यक्तित्व और कृतित्व पर भी स्वतन्त्र रूप से भी बहुत से शोध- प्रबन्ध प्रस्तुत हुए हैं, जिनमें डा० हीरालाल दीक्षित कृत ` आचार्य केशवदास ,` डा० किरणचन्द्र शर्मा कृत ` आचार्य केशवदास : जीवन कला और कृतित्व ` भी प्रकाशित हुआ है। इसके अतिरिक्त डा० विजयपाल सिंह ने केशवदास पर दो शोध- प्रबन्ध लिखे (पी० एच० डी के लिए उन्होंने ` केशवदास और उनका साहित्य ` और डी० लिट् के लिए ` केशवदास का आचार्यत्व ` नामक शोध- प्रबन्ध लिखा। केशव के अतिरिक्त मतिराम पर दो शोध- प्रबन्ध प्रस्तुत हुए।

(१) डा० महेन्द्र कुमार द्वारा लिखित ` मतिराम कवि और आचार्य `

(२) डा० त्रिभुवन द्वारा रचित ` महाकवि मतिराम `

मतिराम की ही भांति आचार्य भिखारीदास पर भी डा० नारायणदास खन्ना ने शोध- ग्रन्थ प्रस्तुत किया, जिसमें भिखारीदास के व्यक्तित्व और कृतित्व की पूर्ण समीक्षा की गई है। इस दिशा में कुछ ऐसे भी शोध- प्रबन्ध लिखे गये हैं जिनमें आचार्यत्व की अपेक्षा कवित्व पक्ष की आलोचना पर्यालोचना की प्रधानता है। इन ग्रन्थों में

डा० बच्चन सिंह द्वारा लिखित `रीतिकवियों की प्रेम व्यंजना`
डा० मनोहर लाल गौड़ का `घनानन्द और स्वच्छन्द काव्यधारा`
डा० अम्बिकाप्रसाद कृत `द्विजदेव और उनका काव्य,` डा० ब्रजनारायण सिंह का `कविवर पद्माकर और उनका युग`, डा० रामसागर त्रिपाठी कृत `मुक्तक काव्य परम्परा और बिहारी` तथा डा० छोटेलाल गुप्त कृत `सूरत मिश्र और उनका साहित्य`, डा० किशोरीलाल कृत `रीतिकवियों की मौलिक देन` महत्वपूर्ण है।

अलंकार निरूपण की भाँति काव्य के अन्य अंगों के विश्लेषण से सम्बद्ध ग्रन्थ भी रचे गये, इनमें डा० अरविन्द पाण्डेय रचित `रीतिकालीन काव्य में लक्षणा का प्रयोग,` डा० सच्चिदानन्द चौधरी का `हिन्दी काव्यशास्त्र में रस सिद्धान्त`, डा० गणपतिचन्द्र गुप्त का `हिन्दी काव्य में शृंगारिक परम्परा और महाकवि बिहारी,` डा० राजेश्वरप्रसाद चतुर्वेदी कृत `रीतिकालीन कविता एवं शृंगार रस,` तथा डा० आनन्दप्रसाद दीक्षित प्रणीत `रस सिद्धान्त : स्वरूप विश्लेषण` आदि मुख्य हैं।

प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध इलाहाबाद विश्वविद्यालय के हिन्दी विभाग के पूज्य डा० किशोरीलाल जी के सुयोग्य निर्देशन में लिखा गया है।

पूज्य डा० किशोरीलाल जी ने शोध-प्रबन्ध पढ़ा है और यथास्थल अपने सत्परामर्शों से मुझे अतिशय लाभान्वित किया है। मुझे यह कहने में तनिक भी संकोच नहीं है कि यदि श्रद्धेय डा० किशोरीलाल जी के सहज

स्नेह और वात्सल्य का सम्बल मेरे अनुसंधान - पथ में सहायक न होता और अनुसंधित्सर को अपार ज्योति उन्होंने न प्रदान की होती तो मैं शोध- प्रबन्ध को इस रूप में प्रस्तुत कर सकती, इसमें पूर्ण सन्देह है। दूसरे शब्दों में, प्रेरणा उन्हीं की, कृपा उन्हीं की, सुझाव उन्हीं का, दिशा- निर्देश उन्हीं का तथा यह कृति उन्हीं के आदेश का एक मात्र पालन है।

श्रद्धेय डा० किशोरी लाल जी ने अत्यधिक व्यस्त होते हुए भी जिस उदारता के साथ मेरी बातें सुनीं और मेरे निराश मानस- पटल में आशा की जो रश्मियां समय- समय पर देदीप्यमान कीं तदर्थ उनके चरणों में श्रद्धा के कुछ सुमन अर्पित करने के अतिरिक्त और मैं उन्हें दे ही क्या सकती हूं ? अत: मात्र औपचारिक धन्यवाद देने की धृष्टता का साहस तो मैं कर ही नहीं सकती।

अन्त में मैं अपने अनेक गुरुजनों, सहेलियों और सुहृदजनों एवं शुभैषियों की भी चिरऋणी हूं, जिनकी शुभचिन्तनाएं मेरे साथ रहीं। इसके साथ ही मैं हिन्दी साहित्य सम्मेलन के संग्रहालय के अधिकारियों और भारती भवन पुस्तकालय के पुस्तकालयाध्यक्ष के प्रति भी कृतज्ञता ज्ञापित करती हूं जिनसे मुझे शोध- कार्य की अवधि में अमित सहायता प्राप्त होती रही।

— मधुबाला श्रीवास्तव

अनुक्रमणिका

प्रथम अध्याय

: भारतेन्दु पूर्व युग (उत्तर मध्य काल) :

(क) प्रशस्ति के रूप में रीतिकाव्य की समीक्षा का स्वरूप

(ख) " ब्रजभाषा गद्य की टीका या भाष्य रूप में समीक्षा का स्वरूप "

भारतेन्दु पूर्व युग (उत्तर मध्य काल)

(क) प्रशस्ति के रूप में रीति काव्य की समीक्षा का स्वरूप :

भारतेन्दु पूर्व युग शृंगार का युग था। समीक्षाएं प्रशस्ति के रूप में होती रहीं। इस समय समीक्षा प्रक्रिया विषयक दो मापदण्ड थे- प्रथम कविता कविता के लिए है जो सामन्तीय- चेतना से अनुप्रेरित था और दूसरा मापदण्ड जीवन और जगत से सम्पृक्त था। यह दृष्टि आध्यात्मिक चिन्तन से जुड़ी थी तथा जीवन- जगत के मंगल तत्व पर विचार करती थी। इस प्रकार के चिन्तनशील सुन्दरदास, दादू, तुलसी, सूर, कबीर आदि सन्त एवं भक्ति के कवि थे। तथा उनकी दृष्टि इसी प्रकार की थी। परन्तु जो विशुद्ध साहित्यिक उत्कर्ष से अनुप्राणित थे वे कवि मध्यकाल में प्रौढ़ कलात्मक दृष्टि सम्पन्न थे और अतिरंजनापूर्ण राज- प्रशस्ति के वर्णन में ही कविता का लक्ष्य या प्रयोजन निर्धारित करते थे। देव, मतिराम, बिहारी, केशव आदि ऐसे ही कवि थे।

मध्यकाल के सामंती कवियों के प्रिय छन्द कवित्त और सवैये ही रहे। कवित्त तो शृंगार और वीर दोनों रसों के लिए समान रूप से उपयुक्त माना गया था। वास्तव में पढ़ने के ढंग में थोड़ा विभेद कर देने से उसमें दोनों के अनुकूल नाद सौन्दर्य पाया जाता है। सवैया, शृंगार और करुण इन दो कोमल रसों के लिए बहुत उपयुक्त होता है। यद्यपि वीर रस की

कविता में भी इसका व्यवहार कवियों ने जहां तहां किया है। इससे इस काल को रस के विचार से कोई शृंगारकाल कहे तो कह सकता है। शृंगार के वर्णन को बहुतेरे कवियों ने अश्लीलता की सीमा तक पहुंचा दिया था। इसका कारण जनता की रुचि थी जिसके लिये कर्मण्यता और वीरता का जीवन बहुत कम रह गया था[१]।

प्रशस्तियां काव्य रूप में लिखी गईं परन्तु ये प्रशस्तियां या सूक्तियां कोई खास या चर्चित कवियों द्वारा ही नहीं लिखी गईं। कुछ के तो जन्म के बारे में ज्ञात ही नहीं। परन्तु कुछ सूक्तियां काफी प्रचलित हैं। हम मध्यकाल में भारतेन्दु पूर्व लिखी गई दोनों प्रकार की प्रशस्तियों का उल्लेख नीचे कर रहे हैं।

दूलह कवि, देव, दास, मतिराम आदि के साथ आते हैं। इनकी सर्वप्रियता का कारण इनकी रचना की मधुर कल्पना, मार्मिकता और प्रौढ़ता है। इनके वचन अलंकारों के प्रमाण में भी सुनाये जाते हैं और सहृदय श्रोताओं के मनोरंजन के लिए भी। किसी कवि ने इन पर प्रसन्न होकर यहां तक कहा है कि—

(१) प्रशस्ति :

और बराती सकल कवि
दूलह दूलह राय[२]।

१-२ हिन्दी साहित्य का इतिहास:आचार्य रामचन्द्र शुक्ल,पृ०-२३३,२६०
क्रमशः

अर्थात्– " सभी कवि बराती हैं परन्तु दूल्ह कवि तो दूलह राय हैं। "

इसी प्रकार मिली-जुली भाषा के प्रमाण में दास जी कहते हैं कि तुलसी और गंग तक ने, जो कवियों के शिरोमणि हुए हैं, ऐसी भाषा का व्यवहार किया है।

(२) प्रशस्ति :

तुलसी - गंग दुवौ भए, सुकबिन के सरदार।
इनकी काव्यनि में मिली, भाषा विविध प्रकार[१]।।

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने इस सम्बन्ध में कहा है कि इस सीधे दोहे का जो यह अर्थ ले कि तुलसी और गंग इसलिए कवियों के सरदार हुए कि उनके काव्यों में विविध प्रकार की भाषा मिली है, उनकी समझ को क्या कहा जाय[२]?

दास ने तुलसी और गंग कवि की कविता में अनेकों भाषाओं के मिलने की बात कही है।

वि० " गोस्वामी तुलसीदास (जन्म संवत् १५५४ वि०) और कविवर ' गंग ' (समय १६वीं शताब्दी) को दास जी ने इस दोहे में

१- काव्य प्रकाश : भानु, पृ०- ६७६; । काव्यनिर्णय :भिखारीदास,पृ० -६
२- हिन्दी साहित्य का इतिहास : आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, पृ० - १३२

अच्छे कवियों में प्रमुख माना है। इन्हीं दोनों के काव्यों में भाषा वैविध्य का संकेत किया है। विविध प्रकार की भाषा का स्पष्टीकरण यहां नहीं है। गोस्वामी तुलसीदास का ` रामचरितमानस ` तथा कुछ अन्य ग्रन्थों में ` ब्रजावर्धा ` के विविध रूप कहे जा सकते हैं। खोजने से भाषा का ` विविध प्रकार ` बतलाना कुछ खोज चाहता है[1]। कारण यह है कि दास जी के समय आपकी रचना का कोई विशेष ग्रन्थ का नहीं मिलता। आजकल तो इनके फुटकल कवित्त- सवैया विविध हस्तलिखित और मुद्रित संग्रह ग्रन्थों में मिलते हैं, जिन्हें संग्रहीत कर स्व० हरिनारायण जी पुरोहित जयपुर ने प्रकाशित किये हैं[2]।

(३) प्रशस्ति :

सूर की प्रशस्ति के सन्दर्भ में गंग कवि तथा बलवीर कवि के बारे में सूचित इस प्रकार है—

उत्तम पद कवि ` गंग ` को

उपमा को बलबीर।

इस समय सूक्तियों के रूप में ही समीक्षाएं प्रस्तुत हुई। इनमें अर्थगाम्भीर्य में केशव एवं उपमा में बलबीर का नाम विशेष रूप से लिया गया है।

१- काव्य निर्णय : भिखारीदास, पृ०- ११

२- वही, ११

सूर और तुलसी की सूक्ति इस प्रकार लिखी गई—

(४) प्रशस्ति :

सूर सूर तुलसी ससि

उडुगन केशवदास ।

अब के कवि खद्योत सम

जहं तहं करत प्रकाश ।।

यहां 'अब के कवि' से तात्पर्य रीतिकवियों से है जिन्हें सचमुच सूक्तिकार ने सूर और तुलसी के उदात्त काव्यादर्श और उनके महान् प्रयोजनों से प्रभावित होने के कारण उन्हें खद्योत से उपमित किया है।

भारतेन्दु पूर्व युग में आलोचनात्मक रूप में प्रस्तुत सूक्तियों का आधार शास्त्रीय मानदण्ड की अपेक्षा वैयक्तिक रुचि ही अधिक रहा, फिर भी उनमें कवियों की विशेषताएं शास्त्रीय तत्वों के आवरण में ही रखी जाती हैं। रीतिकाल में इस प्रकार की सूक्तियों का अधिक प्रचार रहा है। ये सूक्तियां प्राय: अज्ञात कुल-जन्मा होती हैं। इसलिए इनका निर्माण-काल अनिश्चित है। इनमें तुलनात्मक दृष्टिकोण की ही प्राय: प्रधानता है। यह तुलना किन्हीं गम्भीर शास्त्रीय आधारों पर नहीं होती हैं। प्राय: वैयक्तिक रुचि के कारण अथवा किसी एक शास्त्रीय तत्व की दृष्टि से ही एक कवि को दूसरे कवि से ऊंचा अथवा नीचा बता दिया जाता है, जैसे उपर्युक्त सूक्तियों में।

" सूर सूर तुलसी शशि " के वास्तविक आधार के सम्बन्ध में निश्चयपूर्वक कुछ नहीं कहा जा सकता। विभिन्न विद्वानों ने इसके विभिन्न आधारों की कल्पना की है। इस उक्ति के अभिप्राय को समझने का गम्भीरतापूर्वक प्रयत्न हुआ है। आधुनिक विवेचन का ये आधार भी रहा है। आचार्य शुक्ल के अनुसार इसमें भी अनुप्रासप्रियता ही प्रतीत होती है[1]। इसी प्रशस्ति के विषय में सुखसागर- तरंग में पण्डित बालदत्त मिश्र ने देव के लिए कहा कि यदि सूर सूर हैं, तुलसी ससी हैं तो कवि देव वह आकाश है जिसमें यह सब कवि घूमा करते हैं[2]।

बिहारी लाल जी की बिहारी सतसई पर लिखी गई सूक्तियां—

(६) प्रशस्ति :

सतसइया के दोहरे ज्यों नाविक के तीर।

देखन में छोटे लगे घाव करें गम्भीर।।

इसमें बिहारी की प्रौढ़ कलात्मक दृष्टि और उनकी अभिव्यंजना कला की सजगता पर प्रकाश पड़ता है। वस्तुतः उस समय रीति समीक्षा का स्वरूप चमत्कारप्रियता और काव्य कला कौशल के निरूपण तक ही सीमित हो चुका था।

१- हिन्दी आलोचना उद्भव और विकास : डा० भगवतस्वरूप मिश्र पृ०-२१६

२- सुखसागर तरंग : पं० बालदत्त मिश्र, भूमिका भाग, पृ०-१, — सेठ छोटेलाल लक्ष्मीचन्द, अयोध्या से प्रकाशित

(७) प्रशस्ति :

जो कोऊ रस रीति को समुझयो चाहै सार ।
पढ़ै बिहारी सतसई कविता को शृंगार ।।

इसमें सूक्तिकार ने रसरीति (शृंगार) के मादक प्रभाव और तत्कालीन सामंतीय दृष्टि से जुड़ी काव्य चेतना के प्रति स्पष्ट संकेत है। केशव के ऊपर लिखी गई उक्ति—

(८) प्रशस्ति :

कवि को देन न चाहै विदाई ।
पूछै केसो को कविताई ।।

केशव के पाण्डित्य और उनकी शास्त्रनिष्ठ प्रतिभा का लोहा सभी कवि-समाज और विद्वन्मण्डली मानती थी, इसमें स्पष्ट रूप में व्यंजित है। प्रशस्तियों के रूप में कहीं-कहीं रीतिकालीन कवियों ने भी तत्कालीन कवि, कलाकारों पर विचार किया है। इस सम्बन्ध में सूदन की ` सुजान चरित ` के छन्द प्रस्तुत किये गए हैं—इसमें सर्वप्रथम संस्कृत कवियों और महर्षियों का गुणगान किया है फिर हिन्दी के एक सौ पचत्तर कवियों का नाम प्रशस्ति रूप में दिया है। तथा सूदन जी को प्रचलित प्रथा के अनुसार ग्रन्थनायक की बहुत कुछ बड़ाई करनी पड़ी है। इन्होंने बदनसिंह के बेटे सूरजमल (उपनाम सुजान सिंह) का चरित इस ग्रन्थ में वर्णित किया है।

(१०) प्रशस्ति :

प्रनत गिरा गिरि ईस गवरि गौरा गिरिधारन ।
गौकर गायत्री सुनोधरन तिय गोहाज ॥
गंग गाइ सौमती गलो गृहपति अरु सुरगिर ।
गंध्र प्रेम गीर्वानु गृहम्पति गंध्वाह गुर ॥
गन गुडा केश गंगेयहु गगन चरहु सुनि लिज्जियै ।
कर जोरि प्रनति सुदन करत क गृह गोपति किज्जियै ॥ १ ॥

अनाम्ब कबीस बहुरि बाल्मीक व्यास मुनि ।
पानपूत विधि पूत सूत सनकादि बहुरि गुनि ॥
संकट अरु जयदेव दंडि जज जट मम्मट नर ।
केयर भार्गव विदित श्री धररु कालिदास बर ॥
बार बोपदेव श्री हर्ष कहि माघ महोदधि जानि चित ।
सुर नर मुनि सुर शब्द कवि प्रनति करतु सूदन ॥ २ ॥

अब हिन्दी के कवियों के नाम देखिये—

केशव किशोर कासी कुलपति कालिदास
केहरि कल्यान कनकुदन कविंद सा ।
कंचन कमंथ कृष्ण के सोराय कनक सेन
केवल करीम कविराइ कोकचंद से ।

कुंवर बिहार आनखाना आपति कैम

गंगपति गंग गिरिधर गयंद से ।

गोप गद्द गदाघर गोपीनाथ गदाघर

गोरधरन गोकुल गुलाब जी गुबिंद से ।। ४ ।।

घन घनस्याम घासीराम नरहरि नैन

नाल्क नवल नंद निपट निहारे हैं ।

नित्यानंद नंदन नरोत्तम निहाल नेहो

नाहर निवाज नंद नाम अजमारे हैं ।

चंद बरदाई चंद चिंता मनि चेतन है

चतुर चतुर बिरजीव चतुरारे हैं ।

घातक घवाले जदुनाथ जगन्नाथ जाव

यमकृष्ण जसुवंत जगन बिचारे हैं ।। ५ ।।

टीकाराम टोडर तुरत तारापति तेज

तुलसी त्रिलोक देव दूलह दयाल से ।

दयादेव देवीदास दूनाराइ दामोदर

धीरधर धीर औ धुरंधर विसाल से ।

पंडित प्रसिद्ध पुन्नी पति पहलद पाती

प्रेम परमानंद परम व्रतपाल से ।

परबत प्रेमी पर सीतल बिहारी बान

बीर बर बीर बिजै बालकृष्ण बाल से ।। ६ ।।

बलभद्र बल्लरसिक बिध (ब्रद ?) वृंदावन

बंसीधर ब्रज बौ बसंत बुद्ध रावरे ।

मूषन से मूधर मुकुंद मानिकंठ माधो

मतिराम मोहन मलूक मत बावरे ।

मंडन मुबारख मुनीस मकरंद मान

मुरली मदन मिश्र मरजाद गावरे ।

अच्छर अनंत अग्र आलम ऊमर आदि

अहमद आजम खान अमियान बावरे ।। ७ ।।

इच्छाराम ईसुर उमापति उदय ऊधौ

उद्धत उदयनाथ आनंद ऊमाने हैं ।

राधाकृष्ण रघुराई रमापति रामकृष्ण

राम से रहीम रनधीर राज राने हैं ।

लीलाधर लीलकंठ लोकनाथ लीलापति

लोकमनि लाल लच्छ लघौ लोक जाने हैं ।

सूरदास सूर से सिरोमनि सदानंद से

सुन्दर सभा से सुखदेव संत माने हैं ।। ८ ।।

सोमनाथ सूरज सनेही सेउ स्यामलाल

साहिब सुमेरि सिवदास सिवराम हैं।

हरिपरसाद हरिदास हरिवंस हरी

हरिहर हीरा से कुलीनि हितराम हैं।

जस के जहाज जगदीश के परम मीत

सूदन कविंदन कों मेरो परनाम हैं ।। ६ ।।

सूदन कवि द्वारा लिखी गयी प्रशस्ति के पश्चात् अब ब्रजनाथ कृत घनानन्द कवित्त सवैया—

(११) प्रशस्ति :

नेही महा- ब्रज भाषा प्रवीन औ सुन्दरतानि के भेद को जानै

जोग वियोग की रीति मे कोविद,भावना-भेद स्वरूप को ठानै ।

चाह के रंग में भी ज्यौं हियौ, बिछुरे- मिलें प्रीतम सांति न मानै

भाषा-प्रवीन,सुछंद सदा रहै,सो घन जी के कवित्त बखानै।१।

राधिका का कृस्न को नाम सदा, निसि-बासर जो उस अन्तर राखै

चाह सौं नित्त-विहार की आस करै,सोई प्रेम-सुधारस चाखै

लोक कौ कोनिख वेद मतौं,कुछ बने तंज जग-रीतिन नाखै

सो कबिता घनआनंद का - रस-रीति की प्रीतिय सौं चित माखै ।। २।

प्रेम सदा अति ऊंचो लहै, सु कहै इहि भांति की बात छकी

सुनि कै सब के मन लालच दौरे- मे बौरे लखै सब बुद्धि चकी

जग की कविताई के धोखें रहै, ह्यां प्रवीनन की कवि जाति जकी

समुझै कविता घनआनंद की, हिय आंखिन नेह की पीर तकी ।। ३ ।।

कवित्त

नेह- मकरंद भरे कैधौं अरविंद- वृन्द,

निरखत नसत सकल ताप जी के हैं

कैधौं सुबरन के कलस सुधा सौं भरे,

स्वाद पाएं लगत स्वाद सब फीके हैं

कैधौं अद्भुत जलधर `ब्रजनाथ` कहै

नव- रस- रंग बरसत अति नीके हैं

चोर चित्त वित्त के कि पैठि बरजोर हिये,

कैधौं बिलसत ये कवित्त घन जी के हैं[1] ।। ४ ।।

आछे सुधन सुबरन स्वजि - जलते

बसे छंद बेद रीति सुकवि अधार है

सुन्दर विमल बहु अरथ- निधान देखी

अचिरज नेह- भरे झलके अपार है[2]।।

१- घनानन्द कवित्त : ब्रजनाथ कृत, पृ०- ६, २ क्रमश:

कहैं ब्रजनाथ बहु जतननि बारि हाथ,

बरनौ कहां लौं, रतौ परम सुढार है

ए जू सुनौ मित्त चित्त गुन पै पिरोय इन्हें

राखौ कंठ मुक्ता-कवित्त करि हार है ।। ५ ।।

सवैया

स्वाद महा वर दाखनि चाखत, ज्यौं जन नैननि रोग बढ़ावै

ज्यौं तरुनी-तन-रूप निहारत, अंध सबै हिय सोच उपावै

चित्र विचित्र के भेद सराहत, ज्यौं दृग-मंद न काहू सुहावै

त्यौं घन आनंद-बानि बखानत, मूढ़ सुजानन आनि सतावै ।। ६ ।।

कोटि विषै कटि ओट महा, नहिं नेह की चोट हिये पहचानै

बात के गूढ़ न भेदन जानत, मूढ़ तऊ हठि बादय ठानै

चाह-प्रवाह अथाह परे नहिं, आज ही आप विचच्छन मानै

पूंछ विखान बिना पसु जौ, सु कहा घन आनंद बानी बखानै ।। ७ ।।

विनती कर जोरि के बात कहौं, सो सुनौ मन-कान दै हेत सौं जू

कविता घन-आनंद की न पढ़ौ, पहिचान नहीं उहि खेत सौं जू

जौ पढ़ै बिन क्यौं हूं रह्यो न परै, तौ पढ़ौ चित मैं कटि चेत सौं जूं

जो पै प्रेम-दुखौ हिय नाहिं भयो, तौ कहा सुख है लिख लेत सौं जू ।।८।।

इन प्रशस्तियों से स्पष्ट है कि १८वीं शताब्दी तक काव्य के अन्तरंग और बहिरंग दोनों के परीक्षण, सूक्ष्म अन्वीक्षण तक दृष्टि का प्रसार हो चुका था ।

ब्रजभाषा के रूप में उसकी लाक्षणिकता आदि गुणों की प्रवीणता अनिवार्यत: रीति समीक्षा की प्रक्रिया का एक अंग बन चुकी थी । ` जोग वियोग की रीति में कोविद ` से यह तथ्य उभर कर हमारे सामने आ जाता है कि शृंगार तक की गहराई (चाहे वह संयोग पक्ष हो या विप्रलम्भ या वियोग पक्ष हो) और उसके पूर्ण अभिनिवेश पर बल दिया जाना चाहिए ।

इस प्रकार इस काल में प्रशस्ति गान गाए गए । परन्तु प्रशस्ति गान के अतिरिक्त एक दूसरा पहलू भी था जिसमें प्रशस्तियों की निन्दा की गई है ।

इस काल में प्रशस्तियों के द्वारा भी आलोचनाएं होती रहीं । वह चाहे यशोगान के रूप में प्रशस्ति हो चाहे निन्दा के रूप में प्रशस्ति लिखी जाती रही हो परन्तु आलोचनाएं प्रशस्ति रूप में होती रहीं ।

वस्तुत: भारतेन्दु पूर्व युग की समीक्षा सामन्तीय चेतना से अनुप्रेरित थी : यह तो स्पष्ट पता चलता है। परन्तु दूसरी समीक्षा जीवन और जगत से सम्पृक्त था जिसके अन्तर्गत दादू, सूर, कबीर, सुन्दरदास, तुलसीदास आदि सन्त आते हैं। इन्होंने तो सामन्ती युगीन कवियों को बड़े ही हेय दृष्टि से देखा तथा स्फुट या फुटकल रूप में निन्दामूलक कविताएं लिखीं, जिनमें तुलसीदास जी के "रामचरितमानस" से यह अर्द्धाली उद्धृत की जा रही है—

(१) प्रशस्ति :

कीन्हें प्राकृत जन गुन गाना।

सिर धुनु गिरा लागि पछिताना ।।

अब रीतिकालीन राष्ट्रीय कवि भूषण ने भी नराशंस्य या चाटुकारिता मूलक काव्य को निकृष्ट माना है—

"ब्रह्म के आनन ते निकसे ते उत्पंन पुनीत तिहुं परमानो।

राम युधिष्ठिर के बस बलमीकि व्यास के संत सोहानो।

भूषण यों कलि के कविराजन राजन के गुन पाय नसानो।

पुन्य चरित्र सिवा सरजा-सर- न्हाय पवित्र भई पुनिबानो[१] ।।"

सन्त कवि जीवन और जगत से सम्पृक्त थे। इस बात को बताया जा चुका

१- भूषण ग्रन्थावली : भूमिका, पृ०- २-३ : मिश्रबन्धु

है । इसमें सबसे प्रमुख सन्त सुन्दरदास जी थे जिन्होंने रीतिकालीन कवि केशवदास की कटु आलोचना की है। अपने ' सुन्दर विलास ' नामक ग्रन्थ में प्रथम बार उन्होंने खुलकर आचार्य केशव की श्रृंगारिक प्रवृत्तियों की कटु आलोचना उनकी रसिकप्रिया के सन्दर्भ में की ।

सुन्दरदास निर्गुण सन्तों में सर्वाधिक सुशिक्षित, शास्त्र- ज्ञान, सम्पन्न और साहित्यिक थे। सुन्दरदास पर आलोचनात्मक ग्रन्थ कम मिलते हैं। हिन्दी साहित्य के इतिहासों में इनके सम्बन्ध में थोड़ी - बहुत बातें आई है, पर वे पर्याप्त नहीं हैं। सुन्दरदास जी के भक्ति विषयक दृष्टिकोण वैराग्य वृत्ति से प्रेरित है।

सुन्दरदास जी ने नारी निन्दा को अंग ' में वीभत्स- रस शान्त का सहायक होकर आया है जो नारी श्रृंगार का केन्द्र बिन्दु है, सन्तों ने उसे वीभत्स का रूप प्रदान कर दिया है ।

कामिनी को अंग अति मलिन महा अशुद्ध

रोम रोम मलिन, मलिन सब द्वार है।

हाड़ मांस मज्जा मेद, चाम सौं लपेटि राखे,

ठौर ठौर रकत के भरेई भण्डार हैं।

मूत्रऊ पुरीस आंत एकमेक मिलि रही,

औरऊ उदर मांहि विविध विकार है।

सुन्दर कहत नारी नख सिख निंद रूप

ताहि जे सराहै ते तौ बेड़ई गवांर है[1]।। १४४ ।।

सुन्दरदास जी कहते हैं कि कामिनी का शरीर अत्यन्त मलिन और महा अशुद्ध (अपवित्र) है। उसके रोम-रोम मलिन हैं। उसके शरीर के नवों द्वार मलिन हैं। शरीर हाड़-मांस, मज्जा और चर्बी से बना हुआ है। ऊपर से चमड़ा लपेट दिया गया है। स्थान-स्थान पर श्वेत केश हैं। मूत्र और मल अंतड़ियों में मिलकर एक हो गए हैं। पेट में इनके अतिरिक्त भी अन्य अनेक प्रकार के विकार हैं। नारी-नख से शिखा तक निन्दनीय है। इसकी जो प्रशंसा करता है, वह बड़ा ही गंवार और मूर्ख है।

नायिका भेद की शृंगारी रचना से सुन्दरदास जी को चिढ़ थी। वे इसे अनाचार फैलाने वाला समझते थे। इसीलिए अपने पूर्ववर्ती प्रसिद्ध संस्कृत आचार्य भानुदत्त कृत रसमंजरी किंचित पूर्ववर्ती एवं किंचित समकालीन हिन्दी के आचार्य कवि केशवदास कृत "रसिकप्रिया" और अपने समकालीन और सहनामी ग्वालियर निवासी शृंगारी सुन्दर का "सुन्दर-शृंगार" आदि रचनाओं की उन्होंने भूरि-भूरि निन्दा की है।

रसिकप्रिया, रसमंजरी, और सिंगार हि जानि।
चतुराई करि बहुत विधि, विषै बनाई आनि।
विषै बनाई आनि, लगत विषयिन की प्यारी।
जागै मदन प्रचंड सराहैं, नख शिख नारी।
ज्यों रोगी मिष्ठान खाई रोगहि विस्तारै।
सुन्दर यह गति होई जुर्यो रसिक प्रिया-धारै ।। १४५ ।।

सुन्दरदास जी का मत है कि महाकवि केशवदास की " रसिकप्रिया " भानुदत्त का " रसमंजरी " सुन्दर कविराय का " सुन्दर शृंगार आदि विषयों को अत्यन्त चतुराई के साथ बनाया गया है। ये विष और विषयी लोगों को बहुत प्रिय लगते हैं। उनके पढ़ने से कामदेव प्रचंड रूप से जग जाता है और (इसके पढ़ने वाले) नारी का नख से शिख तक प्रशंसा करने लगते हैं वही स्थिति उन लोगों का होगा जो रसिकप्रिया आदि शृंगारी ग्रन्थों को धारण करते हैं, कण्ठहार बनाते हैं और पढ़ते हैं[1]। एक अन्य उदाहरण इस प्रकार है—

रसिकप्रिया के सुनत हीं, उपजै बहुत विकार।
जो या मांही चित दे, वहै होत नर ख्वार।।
वहै होत नर ख्वार, वार तो कछुक न लागै ।
सुनत विषय की बात लहरि विष ही की जागै ।।
ज्यों कोई ऊंघो हुवो, लही पुनि सेज बिछाई ।
सुन्दर ऐसी जानि सुनत रसिकप्रिय माई ।। १४६ ।।

सुन्दरदास जी का कहना है कि महाकवि केशवदास के रीतिग्रन्थ 'रसिकप्रिया' (पढ़ने और सुनने) से मन में अनेक प्रकार के विकास उत्पन्न होते हैं। जो नर इस ग्रन्थ में चित्त लगाता है, वह अविलम्ब नष्ट हो जाता है। विषय-वासना की बातें सुनते ही मन में विष- तुल्य शृंगारी तरंगें उठने लगतीं हैं। यह तो ऐसा ही हुआ जैसे नींद तो पहले से ही आ रही थी,

---

१- सुन्दरविलास : नारी निन्दा को अंग, सुन्दरदास

अब बिछी हुई सुन्दर मुलायम सेज भी सुलभ हो गई हो फिर यह नींद कैसे हटेगी । कहने का तात्पर्य यह है कि वह और भी प्रगाढ़ होगी । ठीक यही स्थिति ' रसिकप्रिया ' पढ़ने- सुनने से होती है। एक तो नर वैसे ही विषयवासना की निन्दा में पड़ा हुआ है, ' रसिकप्रिया ' पढ़ने से यहां वासना की निन्दा और भी प्रगाढ़ होगी[1]।

परन्तु सुन्दरदास जी ब्रह्मचारी थे , हो सकता है उनके लिए कामिनी मात्र विषय- वासना की वस्तु रही हो उनके विचार में शुद्ध कवित्त नख- शिख से पूर्णरूपेण शुद्ध पुरुष है। वह पढ़ने में अच्छा लगता है। जिस कवित्त को सुनते ही कविजन उठकर भाग जाना चाहें वह विकलांग पुरुष के सदृश है। अक्षरों की कमी लंगड़े मनुष्य के समान है, मात्रा की कमी, देशी शराबी मनुष्य के मतवालेपन और लड़खड़ाहट के सदृश है। बेतुकी कविता या भद्दे तुकबन्दी कविता करने के सदृश अर्थहीन कविता अंध के सदृश है। कविता का जीवन हरियश है। जिस कविता में यश की दृष्टि है वह राजा सदृश है, ऐसा सुन्दरदास जी मानते हैं।

१- सुन्दरविलास : नारी निन्दा को अंग , सुन्दरदास

(ख) ` ब्रजभाषा गद्य की टीका या भाष्य रूप में समीक्षा का स्वरूप

रीतिकाल में एकमात्र ब्रजभाषा का साम्राज्य था और ब्रजभाषा में सृजनशीलता एक गौरव की वस्तु मानी जाती थी। भारतेन्दु पूर्व ब्रजभाषा गद्य के रूप में टीकायें लिखी गईं, इन टीकाओं में प्रथमतः बिहारी सतसई और केशव की रसिकप्रिया और कविप्रिया के अतिरिक्त यत्र-तत्र अन्य कवियों की रचनाओं की टीका लिखी गई। इस प्रकार की टीकाओं में काव्यशास्त्रीय दृष्टि की प्रधानता है। हम प्रतापसाहि कृत ` व्यंग्यार्थ कौमुदी ` नामक ग्रन्थ में उनके द्वारा प्रस्तुत ब्रजभाषा भाष्य की टीका का उदाहरण यहां दे रहे हैं। इससे स्पष्ट हो जाएगा कि रीति समीक्षा की प्रक्रिया का क्या स्वरूप था।

जहां शब्द ते अर्थ बहु अधिक अधिक दरसाय।
तिय कटाक्ष ज्यों व्यंजना कहत सकल कविराय[1]।।

टीका :

जैसे कटाक्ष तें बहुत भाव होत है तैसे शब्द ते बहुत अर्थ प्रकट होय सो व्यंजना, ताके दो भेद एक शब्दगत दूसरा अर्थगत व्यंजना।

कंचन के पिंजरा रुचि सों निज हाथन सों

1- व्यंग्यार्थ कौमुदी : प्रतापसाहि, पृ०- २

कमनीय समारे । डारि दाये परदा तिन पै ।

अति जामिन राखि दये रखारे ।। सुन्दर

लै कवान घने पय सान खवावति जाय निनारे ।

काहे को केलि के मन्दिर से सुकसारिका राखत पीतम प्यारे ।।२५।।

टीका :

इहो नायिका को उचित सखा सों काहे को सुकसारिका राखत है

यामे व्यंग्य राति मरे के किस्सा गुरु लोगन में कहत है ताते सो सकोच

खाति है यातें मध्या ।। लo लज्या मदन समान बखानत । तोसों मध्या

कहत सुजानत ।। पति को सुवा पालिवो गुन ताको नायिका दोष मान्यो

और के गुन तें और को दोष याते उल्लास ।। लo औरहि को औरहि

गुन दोष ।। सो उल्लास[1] कहै निर्दोष ।। इहां समान लज्जा मदन

सम्बन्ध तें गौणी सारोपा[2] ।। २५ ।।

प्रताप साहि को टीका के पश्चात् सरदार कवि की हम टीका रख रहे हैं।

सरदार कवि कृत ब्रजभाषा गद्य की टीका रसिकप्रिया सटीक देखिये जो

इस प्रकार है —

अथ राधिका को प्रच्छन्नवियोग शृंगार यथा ।। सवैया ।।

कीट ज्यों काट त्यों कानन कानसों मानहि में कहि आवत ।

१- व्यंग्यार्थ कौमुदी : प्रताप साहि, पृ० - १२

२- वही, १२

-ऊनो। ताहि चलेशु कै चुप ह्वै गये नाक हो केशव एकहि-

दूनो।। नेक ऊटे पट फूटत आँखि सुदेखत है कब को

बृज सूनो। काहे को काहू को कीज परे खो सुजो जेरे-

जावनकिना कबे चूनो[१]।। २३ ।।

टीका :

उचित नायिका की अंतरंग सखी सौं

कैसे सखी में जो मान मै ऊनी बात कहत रही तो मेरे कानन

को जैसे कीटकाटत तैसोई गतरही यह अर्थ में प्रकरो कै

जीभ को का नायक नीको नाहीं लगत रहो।। तहां उत्तर।।

तू मेरी पताकर कान्ह सौं कहत रही तहां मान यह शब्द

व्यर्थ जाइ है। तहां ऐसा अर्थ कीजिए।। कै कानन को तो

कान्ह कीट समान काटत रहे अरु जीभ मान में भी

ऊनी कहि विशय कामों तें विशय में मानकती।। जीभ-

नैहिनी ताको चलो सुन चुप्पे गये।। एकन एकजीभ नाहीं।।

दूनो जीभ भी कान भी या कोई कहिका कान बोलत रहे

तो नैन तब कानन को सुनने को ज्ञान रहत तब तक विचारो

तो आवाज आवै है जब बधिर हो जात तब आवाज नाहीं

१- रसिकप्रिया सटीक : सरदार कवि कृत टीका, पृ०- १७-१८

आवत यह रीति तो इन का अरु आँखिन का कौन बात ।।
कहो नेक अटेपट पट जो इनवे नेक अटे बृजराज के सामुहे
तो फूटत रहो सो कब को बृज सूनो देखतो है ताते काहे निमित्त
काहू को परेखो करिये ।। अब जो जे है जोव ।
कि नाक चमको चुनौती देके इहां कोट ज्यों दृष्टान्त
चुनोती लोकोक्ति है[1] ।। २३ ।।

इस काल में अनेक कवियों ने ब्रजभाषा में ही टीकायें लिखीं जो बहुत ही महत्वपूर्ण है। अन्य उदाहरण हम ` रसिक रसाल ` की टीका को आगे दे रहे हैं। ` रसिक रसाल ` टीका पो० कुमार मणि शास्त्री द्वारा रचित है, जिसमें शास्त्री जी ने इस ग्रन्थ के बीच- बीच में राम नामधारी नरेश का वर्णन किया है। हो सकता है राम नरेन्द्र की आज्ञा से ही यह ग्रन्थ लिखा गया हो परन्तु इसका कुछ संकेत न होने से इसे सत्य नहीं कहा जा सकता है। रसिकरंजन नामक आर्या शप्तशती संस्कृत में निम्नलिखित कवियों का हमें पता लगता है और उनकी सुमधुर काव्य सुधा चखने का भी सौभाग्य प्राप्त होता है। साथ में इस काव्य ग्रन्थ में कवियों की आर्याओं का संग्रह स्थान- स्थान पर किया गया है, और उसके साथ ही साथ एक आर्य सप्तशती का भी पता लगता है।

१- रसिकप्रिया सटीक : सरदार कवि कृत, पृ०- १८

कवि कुमारमणि की अन्तिम उपलब्धि के रूप में उनके ` रसिक-रसाल ` का उल्लेख होता है। कुमारमणि ने ` रसिक रसाल ` में काव्य के लक्षण, प्रयोजन गुण-दोष शब्द शक्ति आदि का विचार काव्यप्रकाश के मतानुसार किया है, रस भेद, भाव-भेद, नायक-नायिका में भेदादि साहित्य दर्पण और दशरूपक के आधार पर और अलंकार का विचार कुवलयानन्द की शैली में लिखा गया है।

रसिक-रसाल किसी खास सिद्धान्त को लेकर नहीं रचा गया है और न हिन्दी भाषा के रीति ग्रन्थों में इस प्रकार के शास्त्रार्थ की गुंजाइश ही थी, क्योंकि जिस उद्देश्य को दृष्टिगत करके रीति ग्रन्थ लिखे गए हैं वह बिलकुल भिन्न था। कवित्व शक्ति प्रदर्शन तथा रसिकता का परिचय देना उस समय के आश्रयदाताओं की रुचि के सर्वथा अनुकूल था, और जो गुण-शैली शास्त्रार्थ, व्युत्पत्ति और सिद्धान्त-प्रतिपादन इत्यादि आचार्यत्व के परिपोषण गुण थे उनकी आश्रयदाताओं के यहां प्राय: पूछ नहीं थी।

भिखारीदास का काव्य-निर्णय और कुमारमणि का रसिकरसाल अधिकतर काव्यप्रकाश और साहित्य दर्पण के आधार पर ही लिखे गये हैं, परन्तु इसमें विषय-प्रतिपादन करने में और परिभाषा के उल्लेख करने में दोनों में बड़ा अन्तर है। रसिक रसाल में संस्कृत-साहित्य के इन ग्रन्थों

का विषय करीब-करीब ठीक ही दिया गया है, परन्तु ` काव्य-निर्णय ` में बड़ी कमी है। काव्य निर्णय में बहुत से स्थान ऐसे मिलेंगे, जहां लक्षण अथवा परिभाषा अपूर्ण है अथवा अशुद्ध और भ्रामक है[१]।

प्रथम उल्लास में ` रसिकरसाल ` के अन्तर्गत काव्य के प्रयोजन, हेतु और भेद बताए गए हैं। लक्षण और उदाहरण काव्य प्रकाश में दिये हुए लक्षण और उदाहरण के अनुवाद ही हैं।

रसिक रसाल में कुमारमणि शास्त्री जी ने कई उल्लास द्वारा काव्य पूरा किया है तथा इन्होंने इसमें गद्य में टीकायें की हैं जो इस प्रकार है, :-

सवैया का एक उदाहरण

संयोग- श्रृंगार

दोहा

जहां सपर अनुसरत दरस- परस सुकुवार।

प्रिय- प्यारी कौ मिलन तहं गनि संयोग सिंगार ।। १२ ।।

१- रसिकरसाल : पी० कुमारमणि शास्त्री, पृ०- ५३

यथा,

सवैया

दोऊ मिले रस के वस बातनि हास-विलसन के रचि बैननि ।
आपना - आपना चाह 'कुमार' दुरावत ताहि प्रतीति की सैननि ।
कंज दियौ करता मिस प्रीतम प्यारी को बांह गह्यो सुख चैननि ।
लाज-लह्यौ तिय नाहीं कह्यौ पै निहारि रही अधमूंदे से नैननि ।।१४।।

टीका :

इहां नायक- नायिका आवलम्बन हैं । विलासादि, उद्दीपन, भुजाक्षेप कटाक्षादि अनुभाव है, क्रीड़ा, हर्षादि रस होत है, ऐसे सब रस होत है ऐसे सब रह हूंनि जानिए ।

पूर्व राग की दस दशा

नयन प्रीति, चिंता, संकल्पन, नींद नाश, कृशता, रुचि हानि ।
लाज- भाग, उन्माद, मूरछा, मृति ये काम दशा दश जानि ।।४२।।

टीका :

कोऊ क्रम ते ये मानत हैं- प्रथम- नयन- प्रीति,
फिरि चिंता, फिरि संकल्पन फिरि निद्रा- नाश

१- रसिकरसाल : पं० कुमारमणि शास्त्री, पृ०- २६

फिरि कृशता,फिर विषय निवृति फिर लज्जा नाश,

फिरि उन्माद फिरि मूर्छा फिरि मृति ।

पंचम उल्लास का उदाहरण

उत्कण्ठता दोहा :

बसि सकास कछु काज-बस- नहि प्रिय पहुँचे पास ।

होय तहां उत्कंठिता तरुनि विरह के त्रास[१]।। ११३ ।।

इहां प्रियमिलन- निश्चया निश्चय मे विरहोत्कण्ठतता है। मिलन- निराशा में विप्रलब्धा है, पास स्थिति में। दूर स्थिति में मिलन निराश में प्रोषितपतिका है। तातें विरहोत्कण्ठतता में उत्कण्ठा सहित हो विरह दमयन्यादि में, गीतगोविन्दादि में बरन्यों है। केवल विरह बरनें अवस्थान्तर होत है। उत्कादिक जाति नाहीं जोई अवस्था कवित में समुझि परें, सोई भेद जानिये।

उत्कण्ठिता द्वै भांति है। एक कार्य विलम्बित सुता दूती अनुत्पन्न- संभोगा[२]।

इसके पश्चात् भारतेन्दु पूर्व काल के श्री सूरत मिश्र जी की अमरचन्द्रिका का टीका का उदाहरण दे रहे हैं जिसमे सूरत मिश्र जी ने बीच- बीच में

१-२ रसिक-रसाल : पी० कुमारमणि शास्त्री, पृ०- ६५ क्रमशः

ब्रजभाषा गद्य में टीकाएं की है। टीकाकार की तो यह विशेषता होती है कि वह मूल दोहे के आभासित अथवा अप्रत्यक्ष अलंकारों को प्रकट करके उसके लक्षणों को पाठक के समक्ष निर्दिष्ट करता है और कहीं-कहीं अर्थ को स्पष्ट कर सीधे अलंकार लक्षण प्रस्तुत करता है। कहने का तात्पर्य यह है कि टीकाकार जहां जैसा उचित देखता है, वहां वैसा करता है। सूरति मिश्र ने भी अपनी "अमरचन्द्रिका" टीका में ऐसा ही किया है।

उदाहरण :

मूल: सीस मुकुट कटि काछनि, कर मुरली उरमाल।
इहि बानक मो मन बसौ, सदा बिहारीलाल[1] ।। २ ।।

टीका :

दूजे दोहा में कह्यौ प्रभु सरूप कौ ध्यान। जातें छन छिन मैं नसै विघ्न वृन्द बलवान ।।

इहां जात्यालंकार लछन

जाति सु जैसो जासु को रूप कहै तिहि साज।
सो ह्यां प्रभुबानक जु है कह्यौ सुन्यौ कविराज ।।

मूल : मकराकृत गोपाल के कुंडल फलकत कान।
धर्यौ मनो हियधर समर ड्योढ़ी लसत निसान ।। १ ।।

१- अमरचन्द्रिका : सूरति मिश्र, मूल छन्द-२, पृ०-३४१

वार्ता :

यहां अलंकार उक्तास्पद वस्तु उत्प्रेक्षा है ताकौ लक्षण—

कुंअल वस्तु सु उक्त ह्यां तर्क करौ कि निदान ।

उक्त आस पद वस्तु की उत्प्रेक्षा मनुवान ।।

इन्होंने बिहारी के मूल भावों का भी अच्छे ढंग से निर्वाह किया है तथा इसके अतिरिक्त इन्होंने मूल दोहे के भाव का परित्याग नहीं किया है। समग्रत: यह कहा जा सकता है कि ` सूरति मिश्र ` की ` अमरचन्द्रिका ` टीका बिहारी सतसई की एक सप्रसंगबोधगम्य और सर्वोत्कृष्ट टीका है[१]।

यहां दो प्रकार से अभिव्यक्त किया गया है—प्रथम टीकाकार साधारण रूप से अलंकार निर्देश करते हुए उसका लक्षण देता है और द्वितीय, अलंकार में निहित अर्थ का विश्लेषण करते हुए अलंकार का नामोल्लेख करता है। और कहीं-कहीं मूल को वार्ता (गद्य) के रूप में प्रस्तुत करता है।

मूल : योग युक्त दिखई सबै मनो महामुनि मयन ।

चाहत पिय अद्वैतता कानन सेवत नयन[२]।।

१- अमरचन्द्रिका : सूरति मिश्र, मूल छन्द- १६, पृ०- ३४२

२- अमरचन्द्रिका : सूरति मिश्र, मूल छन्द- ५८

वार्ता :

एक देश विवृत्ति साव यम ककालंकार और सिद्धास्पद फलोत्प्रेक्षा अलंकार को संकट है। योग और कानन शब्द में श्लेष है[1]।

इसी प्रकार बिहारी का एक अन्य दोहा यों है--

मूल : यों दलि मलियत निरदई दई कुसुम सो गात।
करि घरि देखौ घर घरा अजौं न उर को जात।।

टीका :

भूत भविष्य की जहं कहं वर्तमान सो ल्याय।
सो माविक इम घरघरा वर्तमान दरसाय।।
वर्तमान नहिं होय तो बने न लक्षन सोय।
भूत भविष वर्तमान सों इहां पुष्ट तब होय।।
करि घरि देखो तब कह्यो जब वह है उर होय।
अजौं सुपद निरधार किय वर्तमान लखि सोय।।

वार्ता :

यामें भूतभविष्य को वर्तमान दोऊ ठहरत हैं कि ध्यान में जो पान दियो। तिय को दे सोई सो आगे पान ते पहिले या आगे देखिगी[2]।।

1- अमरचन्द्रिका : सुरति मिश्र, मूल छन्द- ५८

2- वही, पृ० - ३७७

जिस प्रकार से अमरचन्द्रिका के शैली पक्ष में व्याख्या प्रश्नोत्तर अलंकार निर्देश आदि मन्तव्य विशेषतायें पायी जाती हैं, उसी प्रकार से उसके अर्थ पक्ष में सामान्य व्याख्या चमत्कारिक व्याख्या, गूढ़ार्थ पायी जाती है[1]।

इसी प्रकार भाषा-भूषण में भी जसवन्त सिंह ने ब्रजभाषा गद्य में टीकायें बीच - बीच में की हैं। इसके अलावा भी अनेक टीकायें लिखी गयीं। स्फुट रूप में पद्माकर ने ` पद्माभरण ` के अन्तर्गत ब्रजभाषा ग्रन्थ में अपना आशय प्रकट किया है।

यथा-

अथ रीतिहृद्यालंकार

दोहा : प्रिय विदेस तें आइहै जिय जनि धरै विषाद।
नर जीवत सो सुख लहै ऐसो लोक प्रवाद ।।३२९।।

वार्ता :

जो जीवत है सो सुख पावत है या बात को प्रथम बकता नहीं जान्यो जात है लोक प्रवाद कहें लोक को कहनावत है ऐसी जगत लोकोक्ति न जानिये[2]।

१- सूरति मिश्र और उनका साहित्य : डा० छोटेलाल गुप्त, पृ०- ३३६

२- पद्माकर ग्रन्थावली (सम्पा०- विश्वनाथ प्रसाद मिश्र), पृ०- ७३

पद्माकर ने पद्माभरण में संस्कृत की अलंकार पद्धति को ग्रहण किया और कहीं - कहीं हिन्दी में स्वीकार्य पद्धति के विपरीत दृष्टि अपनाई है। ऐसा करना भी उसके प्रचार पाने में कदाचित् बाधक हुआ होगा। वास्तव में साहित्य शास्त्र में हिन्दी के इन लक्षण ग्रन्थकारों ने कोई विशेष नूतन उद्भावना नहीं की। यही क्यों : कभी-कभी तो विद्वत्परिषद् का आयोजन भी इस उद्देश्य से होता था कि हिन्दी में साहित्यशास्त्र के विवेचन के सम्बन्ध में क्या नीति बरती जाय।

हिन्दी साहित्य के रीतिकाल में अलंकार ग्रन्थ दो प्रकार के देखे जाते हैं, एक तो ऐसे ग्रन्थ जिनमें लक्षण- व्यंजना और गुण दोष के विवेचन के साथ- साथ अलंकारों का निरूपण है और दूसरे वे जिनमें केवल अलंकारों का ही वर्णन है।

चन्द्रलोक संस्कृत साहित्य के अन्तिम काल का ग्रन्थ था, परन्तु पद्माकर जी का पद्माभरण चन्द्रलोक का कोरा अनुवाद नहीं है। इसमें लक्षण अवश्य उसी के आधार के बनाए गये हैं। पर उदाहरण इन्होंने अपने रखे हैं। और कहीं इन्होंने बैरीसाल के भाषाभरण का अन्धानुकरण ही किया है। इनके सामने कुवलयानंद भी था। बैरीसाल की उक्त पुस्तक स्वयम् कुवलयानंद के आधार पर लिखी गई है। इन्होंने केवल लुप्तोपमा, के भेदों और प्रमाणालंकार का कुछ विस्तार भाषा-भरण के अनुकूल किया है। जैसे उपमा के जो अन्य भेद पद्माकर ने रखे हैं वे भाषा-भरण में नहीं है। व्याज स्तुति में इन्होंने विषय के अभेद और भेद का झमेला नहीं उठाया।

पद्माकर ने भी परम्परा का पालन मात्र किया है, एक शास्त्रनिष्ठ प्रतिभा के आचार्य में विवेचन की जैसी दृष्टि चाहिए वैसी इनमें नहीं है। पर ऐसा मान लेने में कोई विसंगति नहीं कि भले ही ` पद्माकर ` ने ` जगद्विनोद ` में कवित्व ही दिखाने का प्रयत्न किया हो, पर पद्माभरण ` भाषाभूषण ` की ही भांति आचार्य रूप में अलंकारों का रूप सामने रखने के विचार से लिखा गया है। दो-चार झगड़े के स्थलों को छोड़कर इन्होंने विषय को बहुत स्पष्ट रूप में रखने का पूरा प्रयास किया है।

पद्माभरण इसीलिए अलंकारों को बोध कराने का एक अच्छा ही ग्रन्थ कहा जायगा।

` पद्माभरण ` में ब्रजभाषा की टीका पद्माकर ने बीच-बीच में लिखी है। इसने एक उदाहरण पहले ही दे दिया है, दूसरा उदाहरण इनकी ब्रजभाषा की गद्य टीका का देखिए—

यथा-

लखि तुव लोचन जन उर माहीं। कबहुं काम सर लागत नाहीं।
ह्वै है यों जड़जीव महा हीं। याहीं विपुल जगत के माहीं ।।३३१।।

<u>वार्ता :</u>

जन के जे उर ते भए बहुत वस्तु तोयं तुव लोचन लखे तें कामसर को न लगिवो भयो थोरो सो ठहरायो जगत भयो बहुत वस्तु तायें जड़जीव भयो थोरो सोहू है यह ठहरायो ऐसे बरहू जानिये[१]।

१- पद्माकर ग्रन्थावली : (सम्पा० - विश्वनाथप्रसाद मिश्र), पृ०-७४

अथप्तसंकट

बिहारी पुनर्यथा

उर लाने अति चटपटी सुनि मुरली धुनि धाइ।
हौं हुलसी निकली सुतौ गौ हुल सो हिय लाइ ।।३४३ ।।

वार्ता :

मुरली धुनि सुनिबौ यह सुख को उधम कियौ तासौं भयौ दुख यातैं विषम हुलसी जमक हुलसो सौं उत्प्रेक्षा तौ यहां जमक उत्प्रेक्षा अनुप्रास विषनालंकार की प्रतीति तुरत नहीं होती है यह नीरक्षीर न्याय सौं समप्राधान्य संकर ऐसे औरहु जानिये।

कृष्णकवि की टीका

बिहारी सतसई पर सर्वप्रथम कवित्त सवैया छन्द में भाव विस्तार करने का श्रेय कृष्ण कवि को है। बिहारी सतसई में भी बीच-बीच में ब्रजभाषा में टीका की गई है। कृष्ण कवि की कविता निश्चित ही उच्चकोटि की है। यथा :

सुनत पथिक मुहमाह निसि लुवैं चलत उहि गांम।
बिनु पूछें बिनु ही सनै जियति बिचारी बाम ।। ४३१ ।।

टीका :

यह नायिका प्रोषितपतिका विदेश में पथिक के मुख को बात सुनि नायक ने अट करते या कि दसा जानि सखी को वचनु सखी सों[1]।

अलंकारचन्द्रिका में भी बीच-बीच में ब्रजभाषा गद्य में टीकायें की गई हैं। हरिमोहन मालवीय जी ने छन्दों के अर्थ न देकर केवल काव्य-शास्त्रीय उल्लेख के साथ वक्ता-बोधव्य, अलंकार, ध्वनि और नायक-नायिका भेद तथा रस सम्बन्धित उल्लेख किया है, कहीं-कहीं काव्य-दूषणों की ओर भी संकेत है।

प्रगट भए द्विजराज कुल, सुबस बसे ब्रज आइ।
मेरे हरौ कलेस सब, केसौ केसौ राइ ।।

उपर्युक्त दोहा में दो केशव का उल्लेख मिलता है। इस पर सूरति मिश्र ने लिखा है :

श्लेष अर्थ केशव पिता, अरु हरि केशवराय।
वे द्विज कुल ये चन्द्र कुल, प्रगट अर्थ जताय ।।

प्राचीनतम टीकाकार—(रत्नाकर जी के अनुसार कृष्ण) ने लिखा है : "ए जो ब्रज ते आनि के आबिर के विषै सुबसु काहे है सो कौन कि केसौ जो मेरो पिता अरु केसोराय जो भी कृष्ण जू मेरे सबही क्लेश को हरौ।" शेष टीकाकारों ने ब्रज में बसने का ही उल्लेख करते हैं। सभी

1- बिहारी का काव्य : सम्पा०- हरिमोहन मालवीय, पृ०- ११

सभी टीकाकारों ने पहले ` केशव ` को पिता और दूसरे ` केशव ` को भगवान केशव का स्मरण करना माना है जो अशुद्ध है। वास्तव में प्रथम ` केशव ` आराध्य हैं और ` केशवराय ` पिता हैं जिनका स्मरण धार्मिक मान्यता के अनुसार बाद में किया गया है। हिन्दुओं में देवताओं के बाद पितरों का स्मरण होता है[1]।

अब हम भिखारीदास जी के ` काव्य निर्णय ` का उदाहरण प्रस्तुत कर रहे हैं---`काव्य- निर्णय ` में भी भिखारीदास जी ने बीच-बीच में ब्रजभाषा गद्य रूप में टीकाएं की हैं। जो इस प्रकार है—

उदाहरण ` दोहा ` जथा

फली सकल मन- कामनों, लूट्यौ अगनित चैन।
आज अँचै हरि- रूप सखि, भए प्रफुल्लित नैन[2]।

अस्य तिलक

मन- कामनां वृच्छ नाहीं, जो फलै, फलिबौ सब्द वृच्छन पर होत है। लच्छनों- सक्ति ते मन की कामनों को फली बोलियतु हैं। ऐसे ही ऐसे सब्दन को ऊपर ले दोहा औरु या कवित्त में अधिकार है, सो जाननों।

(इस कवित्त में भी लाज को पीना, कुल धर्म को पचाना, व्यथा

1- बिहारी काव्य : सम्पादक- हरिमोहन मालवीय, पृ०- ३२
2- काव्य निर्णय : आचार्य भिखारीदास, पृ०- २०

बन्धन को संचित करना तथा गोपाल में डूबना, इन सब में मुख्यार्थ द्वारा असंगति है, पर रूढ़ि के द्वारा संसार में ये अर्थ होते हैं[1]।

अस्य उदाहरन `दोहा` जथा

बैरिन कहा बिछावती फिरि - फिरि सेज- कृसाँन।
सुने न मेरे प्रांन- धंन, चंहत आज कहुं जांन ॥

अस्य तिलक

बैरिन सखी को, कृसाँन फूल कों और प्रांन- धंन पति कों कह्यौ, पै सखी, फूल और पति सुं न कह्यौ, जाते साध्यावसाना लच्छनाँ कहिये।
' यहां केवल आरोप्यमान रहने सों ` साध्यवसाना ` और सादृश्य- सम्बन्ध के न रहने के कारन ` शुद्धा प्रयोजनवती है[2]।'

अथ अगूढ़ा व्यंगि बरनन उदाहरन ` दोहा ` जथा-

धंनं जोबनं इन दुहुंन को, सोहत रीति सुबेस।
मुग्ध नरंन मुगधंन करै, ललित बुद्धि - उपदेस[3] ॥

१- काव्यनिर्णय : आचार्य भिखारीदास, पृ० - २० - २१
२- वही, पृ० - २५
३- वही, पृ० - ३२

वस्य तिलक

धर्म के पाश्वे ते मूरख (नर) हू बुद्धिवंत ह्वैजात है औ अनंग-
रूप जीवन के पाश्वे ते नारी चतुर ह्वै जाति है, ये अगूढ़ व्यंग है।
उपदेस - सब्द लच्छनां ते (सों) वाच्य हू में प्रगट है[1]।

इस प्रकार भारतेन्दु पूर्व युग में आलोचना प्रक्रिया के दो पहलू थे
प्रथम प्रशस्ति रूप में आलोचनायें हुयीं द्वितीय ब्रजभाषा गद्य एवं पद्य रूप
में आलोचनाएं हुई जिनमें काव्यशास्त्रीय दृष्टि की प्रधानता थी यही मुख्य
रूप से आलोचना के मापदण्ड थे। इसके पश्चात् हम भारतेन्दु युग की
आलोचना प्रक्रिया पर विचार करेंगे।

१- काव्यनिर्णय : आचार्य भिखारीदास, पृ०- ३२

द्वितीय अध्याय

: भारतेन्दु युग :

(क) स्फुट निबन्धों के रूप में समीक्षा

(i) भारतेन्दु की रीति दृष्टि

(ख) पद्य बद्ध प्रशस्ति के रूप में समीक्षा

(ग) सम्पादित ग्रन्थों की भूमिका के रूप में रीति समीक्षा का स्वरूप

स्फुट निबन्धों के रूप में समीक्षा

भारतेन्दु-काल में समीक्षा का अधिक प्रौढ़ रूप नहीं मिल पाया। उसमें इतनी शैलियों का विकास भी नहीं हुआ है। लेकिन इतना तो निश्चय है कि इस नवीन समीक्षा के बीज भारतेन्दु काल में थे, भावी विकास का पूर्वाभास इसी काल में मिलने लगा। यही भारतेन्दु-काल में थे, इस काल के कुछ आलोचनात्मक प्रयास महत्वपूर्ण विकास की क्षमता का आभास देते हैं। स्पष्ट रूप से इस काल की आलोचना सामान्य परिचय के ही स्तर की है।

पण्डित रामचन्द्र शुक्ल ने हिन्दी साहित्य के इतिहास का काल-विभाजन करते हुए विक्रम की १८वीं शताब्दी को रीतिकाल माना है। यद्यपि रीति की परम्परा इसके प्राय: सौ वर्ष पूर्व ही प्रारम्भ हो चुकी थी, कृपाराम ने सम्वत् १५९८ में ही रीति-ग्रन्थ का प्रणयन कर दिया था। इतिहास की दृष्टि से यह काल उत्तर भारत के लिए शान्त काल था पश्चिमोत्तर प्रदेश के आक्रमण प्राय: बन्द हो गये थे। मुगल बादशाहों को भी अपने राज्य-स्थापना और उसमें सुख-शान्ति बनाये रखने के लिए अपेक्षाकृत कम युद्ध करने पड़ रहे थे। वे राज्य का उपभोग करने लगे और धीरे-धीरे विलासी हो गये। जनता तथा हिन्दू-राजा भी उनके साथ विलासिता की धारा में बह चले। जीवन में एक शैथिल्य था। इन परिस्थितियों ने साहित्य को भी बहुत प्रभावित किया। वह भी विलासिता

और कुतूहल- तृप्ति का एक साधन- मात्र हो गया। साहित्य में बाह्य अलंकारों- आडम्बरों का बाहुल्य, बाल की खाल खींचने में सूक्ष्म कल्पनाओं और चमत्कारप्रियता का प्राधान्य हो गया। रीति- विवेचन को भी उस काल के लोगों ने एक प्रकार के फैशन और अवकाश- काल के बौद्धिक व्यायाम के रूप में ग्रहण किया। इसलिए उसके सूक्ष्म विवेचन का प्राय: अभाव रहा। यह बुद्धि शैथिल्य का काल था, इसलिए इसमें समीक्षा का प्रौढ़ और सूक्ष्म तर्क- प्रधान शैली का जन्म सम्भव नहीं था। इस काल में केवल परम्परा- मुक्त निरूपण ही होता रहा[१]।

अंग्रेजी के राज्य- प्रसार और मुगल बादशाहों के अध:पतन ने सोये हुए देश को जगा दिया। सब एक परिवर्तन का अनुभव करने लगे। नये राज्य और नई विचारधारा ने भारतीय जनता पर एक व्यापक प्रभाव डालना प्रारम्भ कर दिया। बौद्धिक जागृति और पाश्चात्य अनुकरण के वातावरण में आधुनिक समीक्षा- पद्धति का जन्म और विकास हुआ। इससे नवीन शैली पर काव्य- सिद्धान्तों का निरूपण और समीक्षा की नवीन पाश्चात्य प्रणालियों का ग्रहण हुआ। आधुनिक हिन्दी साहित्य- समीक्षा की ये प्रधान विशेषताएं हैं, जिनके दर्शन भारतेन्दु- काल के प्रारम्भ से ही होते हैं।

भारतेन्दु युग में समीक्षा के तीन स्वरूप थे— प्रथम स्फुट निबन्धों

१- हिन्दी आलोचना का उद्भव और विकास :
डा० भगवतस्वरूप मिश्र, पृ०- २२३

के रूप में, दूसरा प्रबद्ध प्रशस्ति के रूप में, तीसरा सम्पादित ग्रन्थों की भूमिका के रूप में। इन तीन प्रकार की आलोचनाएं इस काल में मुख्य रूप से हुईं जिनमें हम पहले स्फुट निबन्धों के रूप में ही हुए आलोचना प्रक्रिया को रख रहे हैं।

रीति का जादू भारतेन्दु मण्डल पर छाया था। वे रीतिकालीन कविता पढ़ते भी थे और कविता करते भी थे। इन्होंने आलोचना भी की और सम्पादन भी किया।

भारतेन्दु-युग आधुनिक हिन्दी का बाल्य-काल था इस काल में अम्बिकाप्रसाद व्यास, बदरीनारायण चौधरी 'प्रेमघन', राधाकृष्णदास, राधाचरण गोस्वामी, तोताराम, काशीनाथ खत्री, कार्तिक प्रसाद खत्री, श्रीनिवास दास, बालकृष्ण भट्ट, प्रतापनारायण मिश्र, किशोरीलाल गोस्वामी आदि हुए। इसमें पं० बालकृष्ण भट्ट का कार्य पं० प्रतापनारायण मिश्र से कहीं अधिक महत्व का है, क्योंकि वे हिन्दी गद्य को अत्यधिक शुद्ध तथा परिमार्जित करके उसे साहित्य के उपयुक्त बनाने में सर्वथा सफल हुए[1]।

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के 'प्रेममाधुरी' में २ दोहे, ४६ कवित्त और ८५ सवैये हैं। भारतेन्दु के कवित्त सवैयों का यह एकमात्र संग्रह है। उनके कुछ और भी कवित्त सवैयों आदि का उल्लेख है, यों यत्र-तत्र अन्य पुस्तकों में विकीर्ण हैं। इस पुस्तक के द्वारा भारतेन्दु बाबू अपने को रीतिकालीन

१- भट्ट निबन्धावली दूसरा भाग, सम्पा०- धनन्जय भट्ट 'सरल', पृ०-२

कवियों की परम्परा से जोड़ते हैं, उनमें भी विशेष कर उस युग के प्रसिद्ध स्वच्छन्द कवि घनानन्द, ठाकुर, बोधा, रसलान हैं। इस क्षेत्र में प्रेम और विरह की अत्यन्त सुन्दर अभिव्यंजना हुई है[1]।

भारतेन्दु काल में रीतिकालीन कवियों की निबन्ध, पत्र पत्रिकाओं तथा लेखों तथा नाटकों में आलोचनायें हुईं। हिन्दी की ह्रासकारिणी शृंगारी कविता के प्रतिकूल आन्दोलन का भी श्रीगणेश उस दिन से समझा जाना चाहिए जिस दिन भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने अपने 'भारत दुर्दशा' नाटक के आरम्भ में समस्त देशवासियों को सम्बन्धित करके देश की गिरी हुई अवस्था पर उन्हें आंसू बहाने को आमंत्रित किया--

रोवहु सब मिलि कै आवहु भारत भाई
हा ! हा ! भारत दुर्दशा न देखी जाई'

' रीति कविता को शताब्दियों से चली आती हुई गन्दी गली से निकलकर शुद्ध वायु में विचरण करने का श्रेय हरिश्चन्द्र को पूरा- पूरा प्राप्त है--- भारतेन्दु हरिश्चन्द्र का वास्तविक महत्व परिवर्तन उपस्थित करने में और साहित्य को शुद्ध मार्ग से ले चलने में है। उच्चकोटि की काव्य- रचना करने में उतना नहीं है। --- शृंगारिक कविता की प्रबल वेग से बहती हुई जिस धारा का अवरोध करने में हिन्दी के प्रसिद्ध वीर कवि भूषण समर्थ नहीं हुए थे, भारतेन्दु उसमें पूर्णतः सफल हुए। इससे भी उनके

1- भारतेन्दु और अन्य सहयोगी कवि : किशोरीलाल गुप्त, पृ०- १६

उच्चपद का पता लग सकता है।[१]

भारतेन्दु काव्य के आलोचकों की आँखें उनकी नवीन ढंग की रचनाओं से कुछ इतनी चौंधिया गई हैं कि उन्हें भारतेन्दु में और कुछ सूझता ही नहीं। शुक्ल जी एवं श्यामसुन्दर दास जी ने भारतेन्दु जी की प्राचीन धारा की कविताओं के प्रचुर परिमाण पर अवश्य ध्यान दिया है, परन्तु उसके साथ न्याय नहीं किया है। दो-चार पंक्तियों में चलते-चलते यों ही एक सस्ती स्थापना कर गये हैं। श्यामसुन्दर दास जी की इस पंक्तियों पर हम सहमत नहीं हैं— 'व्यापकता और स्थायित्व की दृष्टि से विशेष उत्कृष्ट श्रेणी के साहित्य की उन्होंने सृष्टि नहीं की।'

(i) भारतेन्दु की रीति दृष्टि :

भारतेन्दु बाबू जिस समय हिन्दी साहित्य में अवतीर्ण हुये, रीतिबद्ध शृंगार साहित्य का सर्जन प्रचुर परिमाण में हो रहा था। अधिकांश कवि रीति-काव्य प्रस्तुत करने के साथ रीति-शास्त्र भी प्रस्तुत करके आचार्य पद प्राप्त करने के लिये प्रयत्नशील थे। जो हो, भारतेन्दु को सर्वप्रथम इसी प्रकार के साहित्य से प्रेरणा मिली। रीति-काव्य की यह प्रणाली मुख्य रूपसे एक साँचे में ढली हुई थी — कवि लोग दोहों में लक्षण प्रस्तुत कर सवैया या कवित्त में उदाहरण देते थे। भारतेन्दु बाबू ने स्वयं

१- भारतेन्दु और अन्य सहयोगी कवि : डा० किशोरीलाल गुप्त, पृ०- ३०

कोई रीतिबद्ध ग्रन्थ नहीं लिखा। उन्होंने रीति मुक्त रचनाएं ही प्रस्तुत कीं। फिर भी उनके आधे से अधिक कवित्त, सवैये रीति रचना के सफल उदाहरण हैं। `सुन्दरी तिलक` सवैयों का संग्रह है। भारतेन्दु बाबू ने इस संग्रह में नायिका-भेद के क्रम का अनुसरण किया और शृंगार-रस का सागर बहाया है। भारतेन्दु ने अपने भी अनेक सवैये इस ग्रन्थ में दिये हैं, इससे स्पष्ट है कि उनके अनेक कवित्त, सवैये नायक-नायिकाओं के श्रेष्ठ उदाहरण हैं। श्री प्रभुदयाल मीतल प्रणीत `ब्रजभाषा साहित्य का नायिका भेद` नामक ग्रन्थ में भी भारतेन्दु बाबू के १५ कवित्त सवैयों को स्थान दिया गया है। इससे भी स्पष्ट है कि भारतेन्दु बाबू ने रीतिमुक्त, रीति साहित्य का सर्जन किया है[1]। इनके पिता के `रस रत्नाकर` नामक रस-सम्बन्धी ग्रन्थ को भारतेन्दु जी ने पूरा करने में हाथ लगाया और अप्रैल-मई १८७४ के हरिश्चन्द्र मैगजीन के अंक ७-८ में निकाला है और `हरिश्चन्द्र कला` में भी यह संकलित हुआ है। इसके द्वारा रीतिशास्त्र की एक नूतन प्रणाली का आरम्भ होते-होते रह गया। अभी तक आचार्य लोग दोहों में लक्षण लिखा करते थे, परन्तु छन्दबद्ध लक्षण में विवेचन के लिए स्थानाभाव रहता है इसलिए भारतेन्दु बाबू ने गद्य में अपनी स्वतन्त्र विवेचना के अनुसार लक्षण प्रस्तुत किया था। वे परकीया का लक्षण इस प्रकार लिखते हैं—

१- भारतेन्दु और अन्य सहयोगी कवि : डा० किशोरीलाल गुप्त, पृ०-१४५

'अथ परकीया। अप्रकट परपुरुषानुरागिणी परकीया अर्थात् अप्रकट पर पुरुष में जो अनुराग करे वह परकीया। पर इस सूत्र का और प्राचीन मत का आग्रह और अनुभव प्राचीनों ही को रहे। मैं तो न ऐसा मानता हूं और न मेरा अनुभव है, क्योंकि इस सूत्र के दो लक्षण हैं, एक तो अप्रगट अनुराग, वह अनुभव के बाहर है, क्योंकि यह प्रेम ऐसी आंच है कि कभी छिपती नहीं। इसमें उदाहरण स्वरूप श्री गोपीजन हैं जिनका प्रेम स्वयं ग्रन्थों में विख्यात है। और इस दशा में कुलटात्व कभी नहीं आता, क्योंकि अनुभव है कि किसी - किसी परकीया का प्रेम पतिव्रता से भी दृढ़ होता है। इससे पहिला लक्षण अनुभव विरुद्ध है और दूसरा यह कि आप ही 'अनुराग करे' यह भी अनुभव विरुद्ध है, क्योंकि अनेक नायिकाओं का एकांगी प्रेम होता है। इस दशा में क्या उनका वर्णन स्वकीया करके होगा ? जैसा ठाकुर जी ने कहा--

'आवत है नित मेरे लिए इतना तो विशेषहूं जानति हौंहैं'[1]

और इस दशा में नायिका में बिना दुर्गुण देखे कुलटा कहने से भी पाप है। इससे दूसरा लक्षण भी मत विरुद्ध है।'

ऊपर हमने परकीया के विषय में जो इतना लम्बा विवेचन उद्धृत किया, उससे मेरा तात्पर्य केवल यह दिखाना था कि भारतेन्दु सभी बातों का तर्कपूर्ण विवेचन गद्य का कर रहे थे जो रीति ग्रन्थों के लिए

१- भारतेन्दु और अन्य सहयोगी कवि : डा० किशोरीलाल गुप्त, पृ०-१४६

अत्यावश्यक है। परकीया सम्बन्धी प्राचीनों के मत का इस प्रकार आलोचना कर लेने के अनन्तर कवि स्वयं निज कृत लक्षण इस प्रकार देता है—

" मन मोहै जो हत सकल जाने रस निरधार
प्रीति सकहीं सों करै सो परकीया नारि
प्रगट करै अनुराग वा राखै ताहि छिपाय
नहिं चाहै पिय को तऊ परकीया कहवाय

जो परकीया हो वही परकीया है अर्थात् नाम ही में उसका लक्षण लक्षित है[1]।"

भारतेन्दु अनेक भेदोपभेदोंको बढ़ाया है। साधारणतया धर्मानुसार नायिकाओं को तीन वर्गों में विभाजित किया गया है— स्वकीया, परकीया, सामान्या। श्री प्रभुदयाल मीतल जी भी " ब्रजभाषा साहित्य में नायिका भेद " नामक अपने ग्रन्थ में " अनूढ़ा परकीया " को परकीया मानना अनुचित समझते हैं—

अविवाहित अवस्था में किसी पुरुष से प्रीति करने वाली और उसके साथ विवाह करने की इच्छा रखने वाली कुमारी को अनूढ़ा कहते हैं। इस प्रकार की परकीया में कोई दोष नहीं है, बल्कि इसे परकीया कहना ही नहीं चाहिए। हिन्दुओं के धार्मिक साहित्य में भगवती पार्वती,

----

१- भारतेन्दु और अन्य सहयोगी कवि : डा० किशोरीलाल गुप्त, १४६-१४७

जगज्जननी जानकी, महारानी रुक्मिणी आदि सभी देवी स्त्रियां अनूढ़ा रह चुकी है। उनके इस कार्य को कोई बुरा नहीं कहता। क्षत्रिय राजाओं में स्वयंवर की प्रथा और राजपूत बालाओं का स्वेच्छा से किसी वीर योद्धा से प्रेम करना और उसके साथ विवाह करना सदा से प्रचलित है, इसलिए अनूढ़ा नायिका के आदर्श पर कोई दोष नहीं लगाया जा सकता। अनूढ़ा के शुद्ध प्रेम में व्यभिचार की भावना करना अनुचित है[1]।"

यह स्पष्ट है कि भारतेन्दु बाबू ने यद्यपि रीतिशास्त्र पर कोई स्वतन्त्र ग्रन्थ नहीं लिखा, पर उन्होंने साहित्यशास्त्र का पूर्ण मंथन किया था और विभिन्न विषयों पर तर्क पूर्ण स्वतन्त्र सम्मति भी रखते थे। लक्षण न भी लिखकर उन्होंने लक्ष्य छन्दों का प्रचुर परिमाण में प्रणयन किया है। उनके आधे से अधिक सवैयों को नायिका भेद सम्बन्धी बताया है।

रीतिकालीन कवियों ने रस निरूपण में सबसे पहले शृंगार का विशद वर्णन किया है क्योंकि यह रसराज माना गया है, अन्य रसों को एक-एक, दो-दो उदाहरण देकर यों ही चलता कर दिया है। इनमें उनकी वृत्ति नहीं रमी है, अपने कवित्त, सवैयों में भारतेन्दु बाबू भी प्रधानतः शृंगार के ही कवि हैं, यद्यपि रीतिमुक्त रचना करने के कारण उन्होंने और ढंग की रचनाएं भी पर्याप्त की हैं।

भारतेन्दु जी ने 'प्रेम माधुरी' नामक ग्रन्थ में परकीया तथा स्वकीया का वर्णन किया है। रीतिकाल से चली आती हुई दोहा,

---

१- ब्रजभाषा साहित्य में नायिका भेद : प्रभुदयाल मीतल, पृ०- १५०

कवित्त, सवैया आदि की प्रणाली का सुन्दर प्रयोग भारतेन्दु जी ने किया है। भारतेन्दु जी ने प्रायः एक सहस्र दोहे लिखे हैं। पर उत्तम दोहे अधिक नहीं हैं। उन्होंने कवित्त, सवैये भी प्रायः डाई सौ प्रस्तुत किए हैं। जो एक से एक बढ़कर हैं और अत्यन्त प्रचलित हैं।

भारतेन्दु बाबू का शृंगार रीतिबद्ध है और साथ स्वच्छन्द भी। जहां तक रीतिबद्धता का सम्बन्ध है, वे घनानन्द, रसखान, बोधा एवं ठाकुर की कोटि में आते हैं। भारतेन्दु युग भी रीति परम्परा की रचना होती रही। सेवक, सरदार, हनुमान इसी परम्परा के कवि थे, जिन्हें आधुनिकता छू भी नहीं गई थी। बाबा सुमेर सिंह, द्विजदेव के भतीजे प्रतापनारायण सिंह विरचित `रसकुसुमाकर` रस का एक अत्यन्त श्रेष्ठ ग्रन्थ है। स्वयं भारतेन्दु ने अपने पिता के अधूरे ग्रन्थ को पूरा करना चाहा था, पर वे भी इसे अधूरा ही छोड़ गए। इसमें उन्होंने नायिकाओं के तीन भेदों के स्थान पर पांच भेद किये हैं— स्वकीया, परकीया, तथा गणिका के साथ-साथ कन्यका और कुलटा।

भारतेन्दु के सरस कवित्त सवैयों का संकलन-ग्रन्थ `प्रेम माधुरी` है। इसमें भाषा का अत्यन्त परिष्कार हुआ। सरस सवैयों का एक सुन्दर संग्रह भारतेन्दु ने `सुन्दरी तिलक` नाम से किया था; `शिवसिंह सरोज` भी एक संग्रह ग्रन्थ ही है, हफीजुल्ला खां का हजारा भी इसी युग के अन्त में संकलित एवं प्रकाशित हुआ। भारतेन्दु ने बिहारी के ८४ दोहों पर कुण्डलियां लगाईं। अम्बिकादत्त व्यास ने सम्पूर्ण

बिहारी सतसई पर कुण्डलियां लगाकर ` बिहारी बिहार ` नाम से प्रकाशित कराया, राधाकृष्ण दास ने रहीम के उस समय तक प्राप्त सभी दोहों पर रहिमन विलास ` नाम से एवं हरिऔध ने ` कबीर कुण्डल ` नाम से कबीर के कुछ दोहों की कुण्डलियां लगाई थीं। इसके अतिरिक्त भारतेन्दु ने नाभादास के भक्तमाल के ढंग पर एक ग्रन्थ ` उत्तरार्द्ध भक्तमाल ` नामक लिखा जिसमें एक-एक छप्पय में एक-एक भक्त का जीवनचरित एवं उनकी महत्ता का गुणगान हुआ है।

इस प्रकार भारतेन्दु काल में मुद्रण काल के विकास और समाचार पत्रों के प्रकाशन ने भी आधुनिक समीक्षा-पद्धति के विकास में सहयोग दिया है। समाचार-पत्रों में ` बुक - रिव्यू ` का एक पृथक् स्तम्भ भारतेन्दु-काल से ही है। इसमें भी समालोचना का विकास हुआ है। ऐसे भी इस काल का प्रधान विशेषता है। साहित्य को कूड़े-करकट से मुक्त करने की आकांक्षा से कभी-कभी आलोचक को कटु आक्षेपों का भी आश्रय लेना पड़ा है। आलोचना के प्रारम्भ-काल में निन्दा-स्तुति की अधिकता होती है। भारतेन्दु-काल की आलोचना में यही हुआ। आधुनिक विद्वानों का ध्यान संस्कृत अलंकार ग्रन्थों की तरफ बहुत अधिक गया है। इसका कुछ श्रेय रीतिकाल को भी है।

भारतेन्दु-युग से हिन्दी-साहित्य में क्रान्तिकारी परिवर्तन प्रारम्भ हो गए। हिन्दी को विगत युग के साहित्य से भी उसने पर्याप्त सामग्री ग्रहण की है। पाश्चात्य साहित्य तो इस काल की प्रधान प्रेरणा ही

रहा है। इस प्रकार आधुनिक साहित्य कई शक्तियों से प्रेरणा ग्रहण करके हिन्दी के विगत युगों के साहित्य से पर्याप्त रूप से भिन्न हो गया। ऐतिहासिक परिस्थितियों ने हिन्दी को नवीन दशा का अवलम्बन करने को बाध्य कर दिया। जीवन के साथ ही साहित्य की धारणाओं में भी आमूल परिवर्तन हो गये[1]। रीतिकालीन की तरह अब साहित्य-सृजन मनोविनोद की वस्तु नहीं रहा। साहित्य का उद्देश्य जीवन का यथार्थ चित्रण तथा उसके मंगल की ओर अग्रसर करना माना जाने लगा। साहित्य में नग्न विलासिता का तीव्र विरोध प्रारम्भ हो गया। सुरुचि और नैतिकता साहित्य की मूल प्रेरणा हो गई। साहित्य राज-दरबारों से निकलकर जन-साधारण के क्षेत्रों की वस्तु बन गया। शब्दाडम्बर और अलंकारिक चमत्कार का स्थान रागात्मक तत्व ने ले लिया। जीवन की व्याख्या के रूप में काव्य का लक्षण प्रायः सर्वमान्य हो गया। इस प्रकार उसमें बौद्धिक तत्व की प्रधानता हो गई। सुरुचि नैतिकता और बौद्धिकता इस काल की प्रधान प्रेरणायें हैं। भारतेन्दु-काल के प्रारम्भ से ही साहित्य सम्बन्धी यह धारणा बन गई थी जिसके उपर्युक्त तीन तत्व हैं। सुरुचि और नैतिकता इस काल से ही आलोचना के मूलभूत आधार हो गए। साहित्य सम्बन्धी इस धारणा ने भारतेन्दु-काल के सृजन और भावन दोनों को पर्याप्त रूप से प्रभावित किया है। श्रेष्ठ काव्य की यही कसौटी ग्रहण कर ली गई। जो काव्य इस कसौटी पर खरे नहीं उतरे, उनकी

1- हिन्दी आलोचना का उद्भव और विकास: भगवतस्वरूप मिश्र, पृ0-231

निन्दा हुई। इस काल की दोषोद्भावनापूर्ण आलोचना की मूल प्रेरणा भी सुरुचि ही थी। व्यक्तिगत राग-द्वेष नहीं। परवर्ती काल के तो यह आलोचना व्यक्तिगत कटु व्यंग्यों का रूप भी धारण कर गई। भारतेन्दु-काल से ही राष्ट्र-प्रेम, समाज-सुधार आदि वर्ण्य विषयों का उपयोग प्रारम्भ होने का मूल कारण भी यही साहित्यिक धारणा है[1]।

पुस्तक परिचय वाली शैली ही समसामयिक पुस्तकों की विस्तृत आलोचनाओं के रूप में विकसित हुई है। `आनन्द कादम्बिनी` की संयोगिता-स्वयंवर` और `बंगविजेता` तथा हिन्दी-प्रदीप की `सच्ची समालोचना` इसी शैली के प्रौढ़ उदाहरण हैं।

भारतेन्दु काल में भारतीय अलंकारशास्त्र अथवा पाश्चात्य समीक्षा-शास्त्र के सिद्धान्तों का उपयोग प्रायः कम नहीं हुआ। `हरिश्चन्द्र चन्द्रिका` में एक स्थान पर कालिदास की कविता को कन्द में सना हुआ मक्खन का लड्डू कहा है[2]। और आगे इस प्रकार कहा गया है-

` ऐसा विचार है कि हिन्दी-कविता प्राकृत भाषा से बिगड़ती हुई बनी होगी ` परन्तु इसमें कोई पुष्ट प्रमाण नहीं है। केवल हिन्दी कविता में बहुत से प्राकृत शब्द मिलते हैं, इससे निश्चय हो सकता है, जैसे कीति कान्ह कव्य इत्यादि ---। चन्द की कविता प्राकृत भाषा की सी है। --- परन्तु मलिक मुहम्मद जायसी ने जो ` पद्मावत ` बनाई

१- हिन्दी आलोचना का उद्भव और विकास:भगवतस्वरूप मिश्र,पृ०-२३२

२- कविवचन सुधा अगस्त १८८२

है वह कविता उस काल के पीछे की कविता कही जा सकती है । यह कविता मीठी और सीधी बनी है --- इस समय (रीतिकाल का परार्द्ध) के कवियों का चित्त स्वभावोक्ति पर तनिक नहीं जाता था केवल बड़े- बड़े शब्दाडम्बर करते थे और इन शब्दाडम्बर वालों का पद्माकर राजा है और इसने वर्ण- मैत्री के हेतु अनेक व्यर्थ शब्द अपने काव्य में भर दिए और फारसी के भी बहुत शब्द मिला दिये हैं और इनकी देखा- देखी और कवि भी ऐसा करने लगे हैं । केशवदास ने तब भी कविता की मर्यादा बांधी और उसकी मर्यादा को बहुत लोग कब तक मानते हैं । उस समय वृन्दावन में अनेक अच्छे कवि हुए हैं और उनकी कविता सीधी स्वाभावोक्ति के लिए और रस- भरी होती थी जिनमें नागरी दास जी बड़े अच्छे हुये हैं[1]।

इस काल में पुस्तक परिचय तथा अन्य स्फुट निबन्धों के लेखक के रूप में ही हमें आलोचक के दर्शन मिलते हैं । मुख्य प्रधान समालोचक तो इस युग में तीन ही हैं— भारतेन्दु हरिश्चन्द्र, बदरीनारायण चौधरी और बालकृष्ण भट्ट । ये तीन तो इस युग के प्रधान पुरुष और युग-निर्माता हैं ।

भारतेन्दु जी का ध्यान अपने सम-सामयिक साहित्य की किसी- पुस्तक की आलोचना की अपेक्षा साहित्य के अर्वाचीन विकास के अध्ययन की ओर अधिक गया है । वे साहित्य को विकासशील रूप में देखते हुए भी उनके चिरन्तन स्वरूप की खोज में हैं । उन्होंने कई एक स्थानों पर

१- कवि वचन सुधा : अगस्त १८८२

सैद्धान्तिक निरूपण भी किया है। पर प्रेमघन जी और भट्ट जी ने सैद्धान्तिक विवेचन का उपयोग अपनी प्रयोगात्मक आलोचना में ही किया है। वे रचना के समीक्षा के मान-दण्ड का उल्लेख इन सिद्धान्तों के रूप में पहले कर देते हैं और फिर उसी आधार पर कृति का मूल्यांकन करते हैं। भट्ट जी की 'सच्ची समालोचना' इसका सुन्दर उदाहरण है। हिन्दी में इस पद्धति की धारा बराबर प्रवाहित हो रही है। द्विवेदी जी और मिश्रबन्धुओं की आलोचनाओं में यह कहीं-कहीं तिरोहित अवश्य हो गई है। प्रेमघन भी भारतेन्दु जी की शैली पर साहित्य के विकास का अध्ययन करते हैं। उसमें उन्होंने भी भाषा-गुण और अभिव्यक्ति के विकास पर ही विचार किया है[1]।

" कुछ दिन पहले हमारी हिन्दी की स्थिति ऐसी हो गई थी कि उसका विचार क्षेत्र में अग्रसर होना कठिन दीख पड़ता था। बने-बनाए समाज, जिनका व्यवहार हजारों वर्ष पहले हो चुका था, लाकर भाषा अलंकृत की जाती थी। किसी परिचय वस्तु के लिए जो-जो विशेषण बहुत काल से स्थिर थे, उनके अतिरिक्त कोई और लाना मानो भारतभूमि के बाहर पैर बढ़ाना था। यहां तक उपमायें भी स्थिर अवनति का चिन्ह है। --- इस प्रकार अनुप्रास टंकी हुई शब्दों की लम्बी-लम्बी इस बात को सूचित करती है कि लेखक का ध्यान विचारों की अपेक्षा शब्दों की ध्वनि की ओर अधिक है--- आज सैकड़ों पीछे कितने आदमी

१- आनन्द कादम्बनी : संवत् १६६४

मतिराम, भूषण, श्रीपति और सुजान के कवित्तों को अनुराग से पढ़ते तथा उनके द्वारा किसी आवेग में होते हैं। पर वहाँ सूर, तुलसी, केशव, रहीम और बिहारी आदि की कविता हमारे जातीय जीवन के साथ हो गई है। उनकी एक-एक बात हमारे किसी काम में होने का, न होने का कारण होती है। उपमा का कार्य सादृश्य दिखलाना, भावना को तीव्र करना है। --- जब भाषा का यह हाल है तब फिर इस प्रकार की आर्थिक भावनाओं का क्या कहना है, उनका अनुभव तो हम पार्थिव पदार्थों के ही गुण और व्यापार के अनुसार करते हैं[1]।

भारतेन्दु काल में आधुनिक समीक्षा पद्धति का प्रारम्भ ही हुआ था। प्राय: उसमें प्रशंसा और परिचय का हल्कापन ही है, आलोचना की गम्भीरता और प्रौढ़ता के दर्शन तो यत्र-तत्र ही जाते हैं। विश्लेषणात्मक समीक्षा शैली का विकास तो बहुत बाद की वस्तु है, इस काल में तो उसका आभास-मात्र मिलता है। भारतेन्दु-काल की समीक्षा का महत्व समीक्षा की प्रौढ़ शैली के कारण नहीं, अपितु उन तत्वों के कारण है, जो भावी विकास का स्वर्णिम और उज्ज्वल सन्देश लेकर आये हैं।

इस प्रकार इस युग में समीक्षा की दृष्टि प्राय: स्फुट निबन्धों के रूप में रही है। इसके पश्चात् हम आगे पद्मबद्ध प्रशस्ति के रूप में आलोचनात्मक दृष्टि पर विचार करेंगे।

१- आनन्द कादम्बिनी, संवत् १९५५

(ख) पद्य बद्ध प्रशस्ति के रूप में

भारतेन्दु युग में पद्यबद्ध प्रशस्ति के रूप में भी आलोचनाएं हुई। इस युग के रचनाकार सामाजिक विषयों के साथ-साथ रीतियुगीन काव्य के भी पोषक थे और वे कवित्त, सवैया शैली में समय-समय पर कभी समस्या-पूर्ति के रूप में तो कभी स्वतन्त्रता के रूप में काव्य-रचना किया करते थे।

रीति परम्परा इस काल में भी पोषित होता रहा। यद्यपि भारतेन्दु ने खड़ीबोली को तो महत्व दिया। पर एक यह प्रश्न उठता है कि क्या ब्रजभाषा शृंगारिक-रचना के समक्ष खड़ीबोली का महत्व नगण्य है? परन्तु इतना अवश्य हम कह देना चाहते हैं कि शब्द, संगठन, सौष्ठव, व्यंग्य, वक्रता, उक्ति वैचित्र्य विधान की दृष्टि से निश्चय ही ब्रजभाषा की तुलना में खड़ीबोली की कविता नहीं ठहर सकती है।

इस काल में पद्यबद्ध प्रशस्ति या सूक्ति के रूप में आलोचनायें होती रहीं जिसका एक उदाहरण हम दे रहे हैं।

(१) प्रशस्ति :

कविता कर्ता तीन हैं तुलसी, केशव, सूर।
कविता खेती इन लुनी, सीला बिनत मजूर ।।

अर्थात्—कविता कर्ता तीन ही हैं। तुलसी, केशव और सूर और कवि तो ठीक उस प्रकार हैं जिस प्रकार खेत कट जाने के पश्चात् खेत में बचे हुए सीला विखरे अन्नकण बिनते हुए मजदूर!

रीति का जादू भारतेन्दु मण्डल पर छाया हुआ था। वे रीतिकालीन साहित्य पढ़ते भी थे और स्वयं काव्य-सर्जना में संलग्न थे। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र जी ने आलोचनायें भी लिखी हैं। घनानन्द का सम्पादन भी किया है। `सुन्दरी सिन्दूर` में भारतेन्दु जी ने देव को ही मुख्य आधार बनाया है क्योंकि भारतेन्दु जी देव काव्य के अधिक अनुरागी थे। आगे चलकर भारतेन्दु के फुफेरे भाई राधाकृष्ण दास ने बिहारी पर एक आलोचनात्मक लेख लिखा है जिसमें कहा गया है कि बिहारी हिन्दी साहित्य के आकाश के   निष्पूषणीय मेघ हैं।

एक प्रशस्ति बिहारी पर जो इस प्रकार लिखी गई।

(२) प्रशस्ति :

जो कोऊ रस रीति को समुफयो चाहे सार।

पढ़े बिहारी सतसई कविता को   सिंगार ।।

पाण्डित्य से परिपूर्ण जो समीक्षायें पूर्ववर्ती प्रशस्तिकारों द्वारा प्रस्तुत की गई वह बहुत ही सन्तोषजनक नहीं है। केशव की कविता चमत्कार से भरी हुई है। चमत्कारिक उद्‌भावना के कारण स्थल-स्थल पर अतिशय अलंकारों के प्रयोग हुए हैं। अतः इन अलंकारों की अतिशयता के कारण उनकी रचना में अत्यधिक क्लिष्टता आ गई है। प्रसाद गुण प्रायः खो गया है इसीलिए उनकी कविता के मूल्यांकन के सम्बन्ध में यह कथन प्रायः सुनने को मिलता है।

(३) प्रशस्ति :

कवि को देन न चाहो विदाई ।

पो पूछो केशव का बधाई ।।

दोष तो केशव में इतना ही है कि इनकी कविता अर्थ-काठिन्यता से भरी हुई है। भाषा बहुत ही मंजी हुई है अभिव्यक्ति- पक्ष सशक्त रहा है। इसके साथ ही भारतेन्दु बाबू ने स्वयं एक प्रशस्ति में रीतिमुक्त रसखानि को प्रशंसा की है—

(४) प्रशस्ति :

"इन मुसलमान हरिजन पर कोटिन हिन्दुन वारिये"

इसी युग में महाराज रघुराज सिंह ने अपनी 'रामरसिकावली' में सूरदास को प्रशस्ति में सन्दर्भतः रीतिकालीन कवियों की एक लम्बी सूची प्रस्तुत की है जिसमें उक्तिगत मौलिकता का उल्लेख करते समय महाराज रघुराज सिंह ने रीति कवियों की तुलना में सूर कवि को उक्ति को अनूठी बताया है, जिसकी अन्तिम पंक्तियां यों है :

(५) प्रशस्ति :

'रघुराज और कवि जन की अनूठी जुक्ति

मोहि लगि जूठी जानि जूठि सूरदास की'[1] ।।

१- रामरसिकावली ; रघुराज सिंह, पृ०-

इस प्रकार भारतेन्दु काल में भी प्रशस्तियां तो लिखी गईं, परन्तु इस काल में अधिक प्रशस्तियां नहीं लिखी गईं। फिर भी जो लिखी गई हैं उनका उद्देश्य आलोचनात्मक ही था अर्थात् वो प्रशस्तियां आलोचना करने के लिये ही लिखी जाती रही हैं। एक प्रशस्ति का उदाहरण इस प्रकार है—

(६) प्रशस्ति :

सूर सूर तुलसी सुधाकर नक्षत्र केसौ,

शेष कविराजन को जुगनू जाय के।

दोऊ परिपूरन भांति दरसायो अब

काव्य- रीति भासेन सुनहु चित लाय के

देव नभ- मंडल- समान हैं कवीन मध्य

जाये भानु, चित भानु, तारा गन आय के

उदै होत, अथवत, चारो, ओर भ्रमत पै,

जाको ओर छोर नाहीं परत लखाय के।।

वास्तव में मध्यकालीन कवियों में केशवदास तो आचार्य मण्डली में बैठ गये, पर देव विचारे का नाम बहुत समयों तक आचार्य मण्डली से खारिज ही रहा (हां) जब पं० बालदत्त मिश्र ने सर्वप्रथम `सुखसागर` तरंग का सम्पादन किया तो उस ग्रन्थ की भूमिका में उन्होंने किसी अज्ञात नामा कवि की देव विषयक एक ऐसी प्रशस्ति का उल्लेख किया जिससे उनके सम्बन्ध में जो भ्रांतियां थीं और उनकी गुरुता, गम्भीरता के सम्बन्ध में

१- सुखसागर तरंग की भूमिका (देव) सम्पा० - बालदत्त मिश्र

जो अज्ञानता थी वह बहुत कुछ दूर हो गयी ।

देव केशव की भांति लोकप्रियता क्यों नहीं प्राप्त कर सके इसका मुख्य कारण था उनकी अतिशय अनुप्रासप्रियता और शब्दों की विचित्र नाकेबन्दी, जिसमें पड़कर बेचारा अर्थ-सौष्ठव निकल नहीं पाता था और नाद सौन्दर्य के ऐसे पाश में फंसकर कभी-कभी उसे (अर्थ) घुटन भी होने लगती थी, अन्यथा देव केशव की तुलना में एक रससिद्ध कवि, कलाकार ही नहीं थे, काव्यशास्त्र के भी निष्णात आचार्य थे।[१]

इस प्रकार इस युग में स्फुट निबन्धों के पश्चात् पद्य बद्ध प्रशस्तियों के रूप में आलोचनाएं हुईं। मुख्य रूप से आलोचना प्रक्रिया के यही मापदण्ड इस काल में रहे हैं। आगे हम सम्पादित भूमिका के रूप में आलोचना प्रक्रिया का उल्लेख करेंगे।

१- सुन्दरी सिन्दूर : डा० किशोरीलाल, पृ०- ११

(ग) सम्पादित ग्रन्थों की भूमिका के रूप में रीति समीक्षा का स्वरूप

भारतेन्दु-युग में रीति ग्रन्थों की आलोचना का स्वरूप सम्पादित ग्रन्थों की भूमिकाओं में भी प्राप्त होता है। कहने का तात्पर्य यह है कि छोटी तथा बड़ी-बड़ी भूमिका लिखने का प्रचलन इस काल में चल गया था। भूमिकाएं आलोचनात्मक लिखी जाती थीं। भारतेन्दु युग के प्रसिद्ध लेखक पं० बद्रीनारायण चौधरी `प्रेमघन` ने `रसकुसुमार` ग्रन्थ की प्रति पर भूमिका रूप में अपने जो विचार प्रस्तुत किए उनसे तत्कालीन रीति समीक्षा का स्वरूप स्वतः प्रकट हो जाता है, उदाहरणार्थ वह अंश देखें-

" विचित्र बक बनाये इस वर्ष वर्षा के विशेष विलम्ब तक विद्यमान रहने का वर्णन व्यर्थ है। समस्त शरद समाप्त होने तक सावन ही का सा सुहावना समा सूझता रहा और कैसा जैसा-

" पावस घन आंधियार में रह्यो भेद नहिं आन।
रैन दिवस जाने परें, लखि चकई चकवान ।। "

में सन्ध्या कर जिस सन्ध्या को सघन श्याम घनाच्छादित आकाश का शोभा कर रहा था, कि देखो-

" घुमड़ि-घुमड़ि घनघोर की घनेरी घटा गरजि गई तौ, फेरि गजजन लागी री। " चंचला ने अचानक चमक कर लोचनों को वह चका चौंध दी, कि यह नीचा सर कर सोचने लगा, कि भला यह चमक उन सुकुमारी विचारी वियोगिनी विधुवदनियों पर क्या वितायेगी जो यों ही दामिनी की दमक देख दुहाई देतीं कि-

" आरो घुमरि घहरात घन चपला चमकत जात ।

कुपति काम कामिनिन पर धरत नान किरपान ।।

या जिनकी सखियों को यह सीख है, न कर निरादर पिया सौं मिलि सादर सुआये वीर बादर बहादुर मदन को ।" इतने में घम से आगे, डाक आ उपस्थित हुई, जिसमें अनेक पत्र- पत्रियों के संग एक विशाल पुस्तक भी लखाई पड़ी[1] । कर ने विलम्ब न कर उसी का स्वागत । स्वीकार कर नेत्र के आगे से आवरण पत्र का पर्दा उठाई तो दिया बस अद्भुत परिवर्तन हो गया । देखा तो वर्णों का अभिलाषित 'रसकुसुमाकर' आया है --- फिर क्या चंचल चंचरीक चित को चैन कहां ? प्रत्येक कुसुम का चुम्बन कर चला, और उनके मंजुल आमोद से मोहित स्वम् महामधुर मकरन्द पान से मत्त और तृप्त हो गया[2]।

दूसरी भूमिका हम ' सुजान रसखान ' की प्रस्तुत करते हैं जिसे किशोरीलाल गोस्वामी जी ने सम्पादित किया था ।

" भाषा कविता में बाल्यावधि रुचि होने के कारण मैं प्रेमी जनों की कविता सदैव ढूंढा करता था, उस समय मेरी आंखों के आगे अन्यान्य कविताओं के संग रसखानि जी की कविता भी आ गई है । आहा मेरे हृदय में जैसी इनकी कविता गड़ी वैसी और किसी की नहीं, इसमें हेतु कई हैं । एक तो यह कि गुरुमान को उर्दू छोड़ के ब्रजभाषा में कविता करना, दूसरे जो प्रेम अशेष शास्त्राध्यायी को दुर्लभ है । उससे भी अधिक भक्ति

१- रस कुसुमाकर :प्रतापनारायण सिंह' ददुआ साहब, १८६४ में मुद्रित हुई

२- वही,

भावभरित प्रेम में भक्त के अपने हृदय के उद्गार को बाहर करना, तौसरे जबकि अकबर का जमाना था, और अनेक विद्यार्थों के संग संस्कृत और हिन्दी का कविता की उन्नति हो रही थी, और सूरदास, तुलसीदास आदि भक्त और कवि शिरोमणियों का एकाधिपत्य हो रहा था उस समय एक यवन को प्रेममय भक्तिरस में पग के अनन्य भाव से कविता करना कैसे गम्भीरभाव का द्योतक है, इसी से इनकी कविता प्रेम समाज में माननीय पूजनीय और शिक्षणीय है[1]। इस प्रकार भारतेन्दु युग में रीति काव्य की आलोचना की प्रक्रिया अपना मार्ग प्रशस्त करती रही ।

भारतेन्दु काल में आधुनिक समीक्षा- पद्धति का आरम्भ ही हुआ था । प्राय: उसमें प्रशंसा और परिचय का हल्कापन ही है, आलोचना की गम्भीरता और प्रौढ़ता के दर्शन तो यत्र- तत्र हो जाते हैं । विश्लेषणात्मक समीक्षा शैली का विकास तो बहुत बाद की वस्तु है, इस काल में तो उसका आभास- मात्र मिलता है । भारतेन्दु काल की समीक्षा का महत्व समीक्षा की प्रौढ़ शैली के कारण नहीं अपितु उन तत्वों के कारण है, जो भावी विकास का स्वर्णिम और उज्ज्वल सन्देश लेकर आये । इस प्रकार हमने देखा कि भारतेन्दु युग में रीति समीक्षा की प्रक्रिया भूमिका के रूप में कई साहित्यकारों ने प्रस्तुत की जिनमें बद्रीनाथ चौधरी, किशोरीलाल गोस्वामी, दास, बालकृष्ण भट्ट, प्रतापनारायण मिश्र तथा श्री निवासदास जी का नाम मुख्य रूप से आता

१- सुजान रसखान : सम्पा० पं० किशोरीलाल गोस्वामी, सन् १८६२ ई० भारत जीवन प्रेस, काशी, प्र०सं०

है। सत्य तो यह है कि इस काल में आलोचनाएं मुख्य रूप से स्फुट निबन्धों के रूप में, पद्यबद्ध प्रशस्ति के रूप में तथा सम्पादित ग्रन्थों की भूमिका के रूप में हुई।

श्रीनिवासदास जी ने अपने ग्रन्थों की भूमिका में रीतिकालीन कवियों की कुछ आलोचनायें की हैं जो इस प्रकार हैं—

हरिश्चन्द्र चन्द्रिका में संवत् १६३४ में प्रकाशित चतुर्भुज मिश्र गयावाजो के प्रणीत नाटक अवधूत की प्रस्तावना से हमें इस बात का संकेत मिलता है कि रीतिकालीन शृंगारी कवि के प्रति धीरे-धीरे नयी शिक्षा वाले शृंगार से अरुचि रखने लगे थे, शृंगार से उत्कट विरोध का युग अभी आने वाला था परन्तु १६वीं शताब्दी के तीसरे चतुर्थांश से कुछ लोगों को शृंगार से अरुचि होने लगी थी[1]।

इस प्रकार श्रीनिवासदास ने भूमिका में रीतिकालीन कवियों की कटु आलोचना की। इसी काल के मन्नालाल द्विज ने भी अपने ग्रन्थ सुन्दरी तिलक की भूमिका में रीतिकालीन कवियों की समीक्षा प्रक्रिया का किंचित आभास दिया है— इस प्रकार की संक्षिप्त किन्तु महत्वपूर्ण भूमिका से रीति कविता के प्रति लोगों की क्या मनोवृत्ति थी— सहज अनुमान लगाया जा सकता है। वस्तुतः भारतेन्दु के पूर्व रीति कवियों को जो रसिक मण्डल में सम्मान प्राप्त था उसकी परम्परा भारतेन्दु युग तक चलती रही इसका किंचित आभास हमें सम्वत् १६२६ में लीथो में मुद्रित सुन्दरी-तिलक की

१- श्रीनिवास ग्रन्थावली: भूमिका भाग, सम्पा० - श्रीकृष्ण लाल, पृ०- ३-४

उन भूमिका भाग से मिलता है जिसमें तत्कालीन रसिक समाज में रीति-साहित्य के प्रति अनुराग का संकेत या आभास मिलता है। इस सन्दर्भ में अपनी भूमिका के अन्तर्गत श्री पं० मन्नालाल जी लिखते हैं : " एक दिन सहृदय रसिकजनों के समाज में रसिक शिरोमणि श्री बाबू हरिश्चन्द्र जी कुछ प्राचीन कविता की चरचा कर रहे थे उसी काल में रसिकों में परस्पर इस बात का विवाद प्रारम्भ हुआ। कोई बोल उठा कि सवैया ठाकुर से अच्छी किसी की नहीं बनी कोई कहने लगा कि बोधा की किससे कम है ऐसी भांति कोई शम्भुओ नृपशम्भु की प्रशंसा करने लगा। इसमें एक सकस कह उठा कि घनानन्द को सवैया से तो दुख टक्का पड़ता है इसी तरै सब रसिकों की रुचि की परस्पर विचित्रता देखकर बाबू साहब ने ऐसा विचार किया कि एक ग्रन्थ ऐसा संग्रह किया जाय जिसमें नवीन और प्राचीन दोनों समाज के कविजनों की अत्यन्त रसीली कविता जो केवल सवैया छन्द में ही चुन के ले ली जाय और मुद्रित की जाय[1]। "

इस प्रकार मन्ना द्विज ने ` सुन्दरी तिलक ` की भूमिका में रीति समीक्षा के प्रति अपनी आलोचना की दृष्टि प्रकाशित की है। इसी प्रकार भारतेन्दु युग के प्रसिद्ध काव्य रसज्ञ प्राचीन रीति काव्यानुरागी पं० मन्नालाल द्विज जी ने श्रृंगार सुधाकर और सुन्दरी सर्वस्व में भी तत्कालीन रीति काव्यानुशीलन की रुचि और दृष्टि के सम्बन्ध में उक्त

1- सुन्दरी तिलक : भूमिका, मन्नालाल द्विज, पृ०- १

ग्रन्थ की भूमिकाओं में विचार किया है। इससे रीति समीक्षा की प्रक्रिया की प्रारम्भिक अवस्था का इससे स्पष्ट परिचय मिलता है।

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र रीति कविता के अतिशय प्रशंसक थे। पद्माकर, देव, बिहारी, घनानन्द के छन्द उन्हें बहुत स्मरण थे। अपनी रुग्णावस्था में भी वे पद्माकर के 'प्रबोध पचासा' के इस छन्द को गुनगुनाया करते थे।

'सीता सी सती को तज्यो, फूठे ही कलंक पै।
साचे हू कलंकी ताहि कैसे अपनावोगे।
राम सों कहत पद्माकर पुकार नाथ
मेरे महापापन को पार नहीं पावोगे।'

भारतेन्दु के सवैयों पर ठाकुर घनानन्द के शृंगारिक सवैयों का पर्याप्त प्रभाव लक्षित होता है। भारतेन्दु जी अपनी 'हरिश्चन्द्र चन्द्रिका' में भी रीतिकालीन शृंगारिक ग्रन्थों को प्रायः प्रकाशित किया करते थे। वे कविता की दृष्टि से ब्रजभाषा को ही मान्यता देते थे, किन्तु नाटक आदि की भाषा के लिये वे खड़ीबोली को उपयुक्त समझते थे। 'हरिश्चन्द्र चन्द्रिका' में उन्होंने जाजमऊ निवासी 'दत्त' कविकृत ललित्यत्वता नामक एक अलंकार विषयक लक्षण ग्रन्थ को भी सन् १८८६ में प्रकाशित किया था। इससे स्पष्ट पता चलता है कि वे रीतिकाल के शृंगारिक और काव्यशास्त्रीय ग्रन्थों के प्रति कितनी रुचि रखते थे।

'सुजान-शतक' और 'सुन्दरी सिन्दूर' में भारतेन्दु जी ने क्रमशः घनानन्द और देव की कविताओं का संकलन कुछ विशिष्ट पंक्तियों में लिखित समीक्षा के साथ प्रस्तुत किया है। इन विशिष्ट पंक्तियों में लिखित रीति समीक्षा प्रक्रिया का अस्पष्ट धुंधला स्वरूप प्रकट हुआ है। कहने का तात्पर्य यह है कि इनमें भारतेन्दु बाबू ने रीतिकालीन काव्य-रचनाओं के प्रति अपनी रसज्ञता की दृष्टि व्यक्त की है। और वह रीति साहित्य समीक्षा की एक स्वतन्त्र दृष्टि थी जिसमें साहित्यिक उत्कर्ष और प्रौढ़ कलात्मकता का ही नमूना देखने को मिलता है।[1]'

रीति का जादू तो भारतेन्दु मण्डल पर छाया ही था वे रीतिकालीन कविता पढ़ते भी थे तथा रीतिकालीन कविता करते भी थे। वैसे हमने इसका वर्णन पहले ही कर दिया है।

'सुखसागर तरंग' की भूमिका में भी रीति आलोचना हुयी है। इसके पश्चात् शिवसिंह सरोज की भूमिका में भी रीतिकाल के कवियों की आलोचना हुई है इस प्रकार भारतेन्दु युग में अन्तिम तथा मुख्य आलोचना की प्रक्रिया सम्पादित ग्रन्थों के रूप में भी थी।

मुख्य रूप से भारतेन्दु युग में इन्हीं तीन दृष्टियों से आलोचनाएं प्रस्तुत हुईं। वैसे आलोचना की मुख्य प्रक्रिया तो द्विवेदी युग से प्रारम्भ हुई जिसकी चर्चा आगे की जायेगी।

१- हरिश्चन्द्र चन्द्रिका (भूमिका) भारतेन्दु हरिश्चन्द्र

तृतीय अध्याय

: द्विवेदी युग : रीतिकाव्य की समीक्षा या मूल्यांकन की दृष्टि :

(क) नैतिक मान्यताओं की कुण्ठा से ग्रस्त समीक्षा की दृष्टि

(ख) शास्त्रीयता का आग्रह

(ग) टीका और सम्पादन के सन्दर्भ में रीतिकाल का मूल्यांकन

(घ) तुलनात्मक आलोचना के रूप में रीतिकाव्य की समीक्षा की दृष्टि

(क) नैतिक मान्यताओं की कुण्ठा से ग्रस्त समीक्षात्मक दृष्टि

आधुनिक हिन्दी साहित्य का प्रारम्भ उस समय से होता है जब भारत की जनता एक नवीन जागृति का अनुभव करने लगती है। नवीनता की आकांक्षा ने प्राचीन अन्धविश्वासों और रूढ़ियों के विरुद्ध प्रतिक्रियात्मक असन्तोष और क्रान्ति उत्पन्न कर दी थी। सदाचार, नीति, कर्तव्य आदि की प्राचीन रूढ़िगत धारणाओं की आलोचना नवीन मानदण्डों से होने लगी थी इसलिए रीतिकालीन साहित्य तथा साहित्यिक रूढ़ियों और परम्पराओं के विरुद्ध हिन्दी क्षेत्र में व्यापक प्रतिक्रिया के दर्शन होते हैं। काट-छांट विश्लेषण इस युग की मूलभूत प्रेरणा है। जीवन के सभी क्षेत्रों की तरह साहित्य में भी सहृदय पाठक का दृष्टिकोण मूलत: समीक्षात्मक ही हो गया है। आधुनिक काव्य-धारणाओं का मार्ग-प्रदर्शन आलोचनात्मक प्रवृत्ति ही कर रही है। आलोचना इस युग की मूल प्रेरणा है। साहित्य-समालोचना की प्रवृत्ति जनसाधारण में जागृत हो गई।

भारतेन्दु-काल में हिन्दी आलोचना का जो प्रारम्भ हुआ था, उसका मूल उद्देश्य साहित्य में सुरुचि की प्रतिष्ठा थी। उस काल की आलोचना का उद्देश्य सत्साहित्य को प्रोत्साहन देना तथा असत्साहित्य के प्रचार का अवरोध था। भाषा के विकास के आधार पर साहित्य के विकास और उसकी मूलधाराओं का सामान्य परिचय- नैतिक उपयोगिता की दृष्टि से विचार- शास्त्रीय तत्वों के आधार पर सामान्य ऊपरी स्तर का परिचयात्मक विश्लेषण तथा सहृदय की रुचि से मूल्यांकन, आलोचना की ये ही मूल प्रवृत्तियां थीं, जो उस समय बहुत ही अविकसित अवस्था में थी। इस काल में

प्रयास प्रारम्भिक ही थे। धीरे-धीरे काव्य-ग्रन्थ की अपेक्षा कवि का व्यक्तित्व ही आलोचना का विषय बनता गया। उसमें भी सद्भावना का स्थान वैयक्तिक राग-द्वेष और कटु प्रहारों ने ले लिया। आलोचना का तात्पर्य निन्दा-स्तुति हो गया। भारतेन्दु काल की साहित्यिक गोष्ठी साहित्यिकों को काव्य-प्रेरणा प्रदान करती थी। उनका दिशा-निर्देश करती थी। पर यही जब कवि-सम्मेलनों का बृहद् स्वरूप धारण कर गई तो इसका आलोचनात्मक महत्व नहीं रह गया। कुछ विद्वान आलोचना को साहित्य को स्वच्छन्द प्रगति में बाधक ही समझने लगे। द्विवेदी जी आलोचना का भी पहले-पहल इसी कारण बहुत विरोध हुआ। `कालिदास की निरंकुशता वह अपना मत प्रकट करते हुए एक लेखक ने अपने पत्र में इसको साहित्य के मार्ग में बाधक बताया है।

द्विवेदी जी ने जिस समय साहित्य में पदार्पण किया वह समय समालोचना के उपयुक्त तो था। वह तो युग की मूल प्रेरणा ही थी, पर कतिपय रूढ़िवादी धारणायें, अन्ध-विश्वास और साहित्य क्षेत्र का व्यक्तिगत रागद्वेष उसके स्वच्छन्द विकास का अवरोध कर रहे थे। समीक्षा की ऐसी प्रणाली और मानदण्ड भी साहित्यिक जगत् के समक्ष नहीं थे जिनका विकास हो सकता। इसलिये जन-साधारण की भावना प्रतिकूल और विरोधी तत्वों के नीचे दब सी रही थी। इन सभी प्रतिकूल वस्तुओं को आलोचना के स्वच्छन्द विकास के मार्ग से हटा देने का कार्य `आचार्य द्विवेदी` जी ने किया है। वैसे तो आलोचना का आरम्भ तो भारतेन्दु-काल से ही हो गया था। `बदरीनाथ चौधरी,` `बालकृष्ण भट्ट` इस काल के प्रधान आलोचक थे। पर इस काल की आलोचना केवल पुस्तक परिचय और दोषभावना तक ही

सीमित थो । द्विवेदी युग में यह प्रणाली चलती रही । पर ` काशी नागरी प्रचारिणी ` पत्रिका, ` सरस्वती ` और समालोचक के प्रकाशन से इस क्षेत्र में नवीन जागृति आ गई ।

द्विवेदी जी से पूर्व ` बदरीनारायण चौधरी ` तथा ` बालकृष्ण भट्ट ` ने गुण दोष दिखाने वाली आलोचना का आरम्भ किया था । द्विवेदी-काल में भी आलोचना की मूल भित्ति तो यही रही, पर उसका पर्याप्त विकास हुआ । उसमें प्रौढ़ता आई । अपने पूर्ववर्ती आलोचकों की तरह द्विवेदी जी ने पुस्तकों के साधारण परिचय-मात्र से सन्तोष नहीं किया अपितु उन्होंने सामाजिक लेखकों को कविकर्म का आदेश देना भी प्रारम्भ कर दिया । वे उनके काव्य-सम्बन्धी दोषों का निर्देश करने के अतिरिक्त उनके कवित्व के विकास का मार्ग-प्रदर्शन भी करते रहते थे । उन्होंने अपने काल में हिन्दी-साहित्य में एक सजग और कठोर निरीक्षक का कार्य किया है । वे साहित्य में सुरुचि के पक्षपाती थे, इसलिये वे कभी भी कला को जनसाधारण की अभिरुचि को दूषित करने की स्वतन्त्रता प्रदान नहीं कर सकते थे । कलाकारों और समालोचकों की साधारण सी भूल पर वे अपनी समीक्षा का कठोर प्रहार कर देते थे । उन्होंने कवियों और जनता दोनों में ही सुरुचि जागृत करने का प्रयत्न किया और वे इस कार्य में पर्याप्त रूप से सफल भी हुए । द्विवेदी जी जैसे कठोर निरीक्षक के अभाव में रीतिकाल का गन्दानाला अब तक बढ़कर सारे साहित्य को आप्लावित कर देता । इस प्रकार द्विवेदी जी की आलोचना की मूल प्रेरणा सुरुचि और सत्साहित्य का निर्माण है । उनकी कटु आलोचना में भी उनका विध्वंसक रूप नहीं अपितु विधायक रूप ही झांक रहा है । वे साहित्य एवं जीवन दोनों को मार्ग निर्देशन करने वाले समीक्षक हैं । इस प्रकार

द्विवेदी जी की गणना सामान्य कोटि के सैद्धान्तिक एवं व्यावहारिक समीक्षकों में नहीं, वे युगनिर्माता समीक्षक हैं। द्विवेदी जी के आदर्श का स्पष्टीकरण वाजपेयी जी इस प्रकार करते हैं। ' यही कारण है कि द्विवेदी जी अपनी आलोचनाओं में स्थान- स्थान पर कवियों को आदेश देते रहते हैं। यह आदेश केवल शास्त्रीय पद्धति का अनुसरण करके कवि कर्म तक ही सीमित नहीं रहता, अपितु इसमें काव्य के वर्ण्य विषय- छन्दों भाषा को एक कर देने, हिन्दी में अतुकान्त कविता के प्रारम्भ आदि कई एक नवीन आन्दोलन के जन्मदाता हैं। हिन्दी में पुस्तकाकार आलोचना का सूत्रपात करने वाले प्रथम व्यक्ति द्विवेदी जी ही हैं। काव्यांगों का पाश्चात्य शैली पर पृथक् निबन्धों के रूप में निरूपण भी द्विवेदी जी ने ही प्रारम्भ किया है।

द्विवेदी जी ने कविता का उद्देश्य तो मनोरंजन माना है, पर द्विवेदीजी के इस शब्द में भी आनन्द की गम्भीरता सन्निहित है। भारतीय चित्रकला निबन्ध में उन्होंने आनन्द को ही कला का उद्देश्य कहा है[१]। वे काव्य में सरलता, स्पष्टता और सरसता को महत्व देते हैं। रस ही कविता का सबसे बड़ा गुण है[२]।

द्विवेदी जी को ' कला- कला के लिये ' का सिद्धान्त मान्य नहीं है, उन्होंने कवि को अवतार माना है। वे उसको इस प्रकार ईश्वर के समकक्ष रखकर मंगल- विधायक के रूप में देखना चाहते हैं। ईश्वर का अवतार भी धर्म की स्थापना के लिए होता है, और कवि भी इसी लिए उत्पन्न होता है ' स्वाभाविक कवि भी एक प्रकार से अवतार है... पहुंचे हुए पण्डितों का कथन है कि कवि भी ' धर्म -संस्थापनार्थाय ' उत्पन्न होते हैं। ' इस प्रकार

१- विक्रम-चरित्र चर्चा : पृ०- ५६ और ' आलोचनांजलि ' : प्रथम निबन्ध।

२- रसज्ञरंजन : पृ०- ११

मनोरंजन भी द्विवेदी जी को काव्य के गौण प्रयोजन के रूप में ही मान्य है। काव्य का प्रधान उद्देश्य तो वे धर्म अथवा मंगल- विधान ही मानते हैं। मंगल-विधान को काव्य का प्रयोजन मानना विशुद्ध भारतीय दृष्टिकोण है। सुरुचि और नीति का प्रचार भी इसी का स्थूल रूप है। भारतेन्दु युग में भी इसी स्थूल रूप के दर्शन होते हैं। शुक्ल जी ने लोक- मंगल को काव्य प्रयोजन कहा है। छायावादी एवं मार्क्सवादी समीक्षा ने भी लोक-मंगल के सिद्धान्त को स्वीकार किया है। द्विवेदी जी का मंगल सम्बन्धी दृष्टिकोण भारतेन्दु एवं शुक्ल -युग के बीच की कड़ी है। उसमें नीति के आदेशों का स्थूल रूप तो सुरक्षित है ही साथ ही मंगल के अधिक सूक्ष्म एवं व्यापक रूप के दर्शन की आकांक्षा भी है। यही आकांक्षा शुक्ल जी के लोकमंगल के सिद्धान्त में साकार हुई है।

काव्य में सरलता और स्पष्टता के समर्थक होने के कारण द्विवेदी जी अलंकारों के बहुत अधिक प्रयोग का विरोध करते हैं। अलंकारों से सौन्दर्य की वृद्धि होती है इस बात को तो वे अस्वीकार नहीं करते परन्तु यह निर्देश करना भी नहीं भूलते कि स्वभावोक्ति में हृदय को आह्लादित और चमत्कृत करने की अधिक क्षमता है। उन्होंने शब्दालंकारों को काव्य का अनिवार्य तत्व नहीं माना है : अनुप्रासादि अलंकारों से कुछ आनन्द मिलता है, यह सत्य है, परन्तु सहृदयता- व्यंजक और सरस स्वभावोक्तियों से जितना चित्त प्रसन्न और चमत्कृत होता है, उतना इन बाह्य आडम्बरों से कदापि नहीं होता।... अनुप्रास और यमक आदि शब्दाडम्बर कविता के आधार नहीं हैं; जो उनके न होने से कविता निर्जीव हो जाय या उसे कोई अपरिमेय हानि पहुंचे। सरलता, स्पष्टता और प्रभावोत्पादकता के लिए काव्य का जीवन से घनिष्ठ

सम्बन्ध होना आवश्यक है, कवि को अपने वर्ण्य-विषय का पर्याप्त और निकटतम ज्ञान होना चाहिए। तीव्र अनुभूति काव्य के प्राण हैं, उसके अभाव में काव्य अर्थ गौरव नहीं आ सकता। अर्थ-सौरस्य के लिए विषय से कवि के तादात्म्य की अनिवार्यता पर विचार करते हुये द्विवेदी जी लिखते हैं "कवि जिस विषय का वर्णन करे उस विषय से उसका तादात्म्य हो जाना चाहिए। ऐसा न होने से अर्थ-सौरस्य नहीं आ सकता। विलाप-वर्णन करने में कवि के मन में यह भावना होनी चाहिए कि वह स्वयं विलाप कर रहा है....... प्रकृति वर्णन लिखने के समय उसके अन्तःकरण में यह दृढ़ संस्कार होना चाहिए कि वर्ण्यमान नदी, पर्वत अथवा वन के सम्मुख वह स्वयं उपस्थित होकर उसकी शोभा देख रहा है[1]।" उन्हें "कवि-प्रतिभा की स्वतन्त्रता" मान्य है। उनका काव्य में स्वाभाविकता से तात्पर्य मानव-जीवन की सम्भवनीयता से ही है, वे काव्य को इतिहास बनाने के पक्षपाती नहीं; "असलियत से मतलब यह नहीं कि कविता एक प्रकार बनाने का इतिहास समझा जाय और हर बात में सचाई का ख्याल रखा जाय। असलियत से सिर्फ इतना ही मतलब है कि कविता बेबुनियादी न हो। उसमें जो उक्ति हो, वह मानवीय मनोविकारों और प्राकृतिक नियमों के आधार पर कही गयी हो। स्वाभाविकता से उसका लगाव छूटा न हो[2]।" द्विवेदी जी सादगी, असलियत और जोश को उत्तम काव्य के गुण मानते हैं। ये तीनों उपस्थित काव्य को आदर्श रूप प्रदान कर देती है, यह "मिल्टन" को भी मान्य है।

१- रसज्ञरंजन : पृ०-१५

२- वही, पृ०-४६

द्विवेदी जी ने मिल्टन के simble se nsuous Imbassionate '-
को ही सादगी, असलियत और जोश कहा है। द्विवेदी जी को मिल्टन का
यह दृष्टिकोण पूर्णतः मान्य है। उनके मत में भी आदर्श कविता की यही
विशेषता है। पर कविताओं में प्रायः इनमें से किसी न किसी गुण का
किसी-न-किसी अंश में अभाव रह ही जाता है। भाव-भाषा, शब्द-
चयन, छन्द, कथा-विस्तार आदि के औचित्य को ही द्विवेदी जी काव्य
का सर्वस्व मानते हैं। औचित्य-सम्बन्धी यह विचारधारा द्विवेदी जी के
साहित्य में व्याप्त है।

द्विवेदी जी ने आलोचना में सहृदयता की आवश्यकता पर जोर दिया
है। वे कहते हैं कि आलोचक की तुलना निष्पक्ष न्यायाधीश से की है।
आलोचनाओं को देखने की चेष्टा को वे अनुचित कहते हैं[1]। द्विवेदी जी ने
संस्कृत और हिन्दी दोनों में ही ग्रन्थों और कलाकारों की आलोचना की है।
पर इन दोनों में उनके दृष्टिकोण भिन्न रहे हैं। वे हिन्दी के परमभक्त
और सच्चे सेवक थे। इसीलिए द्विवेदी जी ने अपने सम्पादन कार्य के प्रथम वर्ष
में ही दुर्दशा के चित्र प्रस्तुत किये। साहित्य सभा, शूल समालोचक, नायिका-
भेद का पुरस्कार, कला सर्वज्ञ आदि इन सब चित्रों में व्यंग्य और कटाक्षपूर्ण
समालोचनाएं थीं, जिनका उद्देश्य साहित्य का पथ-प्रदर्शन ही था। द्विवेदी जी
संस्कृत ग्रन्थों का परिचय हिन्दी के पाठकों से कराना चाहते थे, उनमें उनका
उद्देश्य प्राचीन साहित्य के प्रति प्रेम ही उत्पन्न कराना था। इसलिए इन्होंने
`नैषध चरित्र चर्चा` और `विक्रमांकदेव चरित चर्चा` में उनके गुणों का

१- सरस्वती सन् १९११

दिग्दर्शन कराते हुए प्रशंसा भी की है। द्विवेदी जी ने विक्रमो-चरित चर्चा की भूमिका में उन्होंने संस्कृत कवियों की आलोचना का अपना दृष्टिकोण स्पष्ट कर दिया है, उनका उद्देश्य दोष- दर्शन एवं पाठकों के हृदय में उनके प्रति अनुराग उत्पन्न करने का ही है। द्विवेदी जी यही चाहते थे कि पाठक उस साधारण परिचय को पढ़कर स्वयं उन ग्रन्थों का अध्ययन करे। " किसी भी रचना की आलोचना करने में समालोचक यदि शुद्ध हृदय से अपनी सम्मति प्रकट करें तो उससे उसकी अप्रतिष्ठा नहीं होती। ' विल्हण ' की अप्रतिष्ठा या निन्दा करने का विचार तो दूर रहा, उल्टा हमने उनका परिचय हिन्दी जानने वालों से कराकर उनकी ख्याति बढ़ाने का प्रयत्न किया है[1]। "

द्विवेदी जी के पूर्व दोष- दर्शन ही आलोचना की प्रमुख विशेषता मानी जाने लगी थी। यह प्रवृत्ति द्विवेदी जी के आलोचनाओं में भी दीख पड़ती है उनकी आलोचना में आलोच्य वस्तु के गुणों की ओर भी ध्यान गया है। उन्होंने उसमें साहित्यिक सौन्दर्य भी देखा है। वे लिखते हैं इसमें सन्देह नहीं कि विल्हण की कविता बहुत सरस है और सरस होकर सरल भी।' उन्होंने कालिदास की उपमाओं के सौन्दर्य का विशद विवेचन भी किया है, और उस सौन्दर्य को हृदयंगम कराने की चेष्टा भी की। " उपमालंकार कोई कवि कालिदास की बराबरी नहीं कर सकता। कालिदास ने अपनी उपमाओं में उपमान और उपमेय का ऐसा सादृश्य दिखलाया जैसा और की उपमाओं में नहीं पाया जाता। उपमा से इनकी वर्ण्य वस्तु इतनी विशद भाव से हृदय मे अंकित हो जाती है कि इनकी कविता का रसास्वादन कई गुना अधिक

१- विक्रमांकदेव- चरित- चर्चा : भूमिका भाग से उद्धृत

आनन्ददायक हो उठता है[१]।" इस काल की आलोचना कवि और कलाकार का पथ-प्रदर्शन करना चाहता था। यह कार्य तो प्रत्येक युग और साहित्य का कलाकार करता है, पर इस काल का आलोचक इसमें आदेशात्मक शैली को ही अपनाकर चला है। इसलिए द्विवेदी जी ने कवि-कर्म के विवेचन में कवि को यह करना चाहिए और यह नहीं करना चाहिए की ही बातें अधिक कही हैं। ये दोषों का निर्देश करके कलाकार को उनसे बचाना चाहते हैं। दोष दिखाने की इस प्रवृत्ति में सुरुचि उत्पन्न करने के साथ ही कवि को कतिपय जड़ नियमों में बांध देने की प्रवृत्ति भी है। इस दोषोद्भावना का आधार वैयक्तिक रुचि नहीं अपितु शास्त्रीयता, सहृदयता और उपयोगिता है। द्विवेदी जी की आलोचना का आधार शास्त्रीय है। उन्होंने संस्कृत ग्रन्थों की आलोचना में अलंकार, रीति-रस और प्रबन्ध के औचित्य की दृष्टि से विचार किया है। इसकी प्रेरणा उन्हें प्राचीन आलंकारिकों और आलोचकों से ही मिली है। वे विल्हण-रचित "विक्रमांक देव रचित-चर्चा" के चौदहवें सर्ग के शरद वर्णन को प्रबन्ध की धारा की दृष्टि से अनुचित बताते हैं : "चौदहवें सर्ग में कहां तो विक्रम जयसिंह की शत्रुता का विचार करके युद्ध रोकने का प्रयत्न कर रहा था, कहां बीच में विल्हण ने शरद् लाकर खड़ा कर दिया और उसी का काम वर्णन करने लगे। ऐसे अवसर में इस प्रकार का वर्णन अनुचित जान पड़ता है[२]।" द्विवेदी जी का मत है कि उस काव्य में अगर कवि प्रबन्ध के औचित्य का ध्यान रखना था तो इतने सर्गों के लिखने की आवश्यकता ही न थी। नायक के चरित्र की अपेक्षा, जो ग्रन्थ का प्रधान वर्ण्य विषय है, लेखक ने अन्य वस्तुओं को अधिक विस्तार दिया है।

१- कालिदास की निरंकुशता

२- विक्रमांकदेव चरित-चर्चा : विल्हण, पृ०- ६५

उनको द्विवेदी व्यर्थ मानते हैं : केवल चरित से उम्बद्ध बातें तो इतिहास का क्षेत्र है। उस ग्रन्थ की शैली अथवा रीति पर विचार करते हुए द्विवेदी जी कहते हैं कि " विल्हण ने ` विक्रमांक देव चरित ` को वैदर्भी रीति में लिखा है[1]। " उद्वेगजनक उक्ति कहकर जिस प्रसंग की आलोचना द्विवेदी जी ने की है, वह वस्तुत: औचित्य की ही दृष्टि है। द्विवेदी जी की सम्पूर्ण आलोचना का आधार सरलता, औचित्य और सरलता है। उन्होंने अपने सम्मुख अलंकार-शास्त्र के कतिपय सिद्धान्तों को ही रखा है। इस प्रकार उनकी आलोचना कुछ शास्त्रीय आलोचना की परिधि में आ जाती है।

द्विवेदी जी में कहीं-कहीं तुलनात्मक अथवा ऐतिहासिक समालोचना के क्षीण तत्व भी दिखलाई पड़ जाते हैं। कवियों और कलाकारों के अन्त:साक्ष्य पर उनके जीवन चरित लिखने की प्रवृत्ति हिन्दी में भी आ गई थी[2]। द्विवेदी जी ने दो कवियों की तुलना तो नहीं की है पर कहीं-कहीं एक कवि की आलोचना करते हुए दूसरे कवि की कतिपय विशेषताओं का निर्देश अवश्य कर दिया है[3]। ` नैषध चरित चर्चा ` में कालिदास की कतिपय विशेषताओं का भी निर्देश है। यह परोक्ष रूप में तुलना ही है।

संस्कृत ग्रन्थों की आलोचना करते हुए द्विवेदी जी ने उनके सुन्दर श्लोक के बहुत-से उद्धरण दिये हैं। इसमें द्विवेदी जी ने प्राचीन टीका पद्धति का अनुसरण किया है। अर्थ के स्पष्टीकरण के साथ ही उन्होंने अलंकार, रस

१- विक्रमांकदेव चरित चर्चा : पृ०- ७४ `च्युत संस्कृति- दोष` की ओर निर्देश, परिशिष्ट पृ०- १

२- हिन्दी आलोचना उद्भव और विकास : भगवतस्वरूप मिश्र, पृ०- २५४

३- नैषध- चरित- चर्चा : पृ०- ६६

अथवा अन्य प्रकार के काव्य-सौन्दर्य का निर्देश भी कर दिया है। इन टीकाओं में द्विवेदी को स्वभावत: कुछ अधिक प्रभाववादी हो जाना पड़ा है। 'भेदकपुत्रा जननी जरातुरा' - जैसे सुन्दर श्लोक की बड़ी विशद व्याख्या हुई है। उसमें अलंकार और काव्यात्मक सौन्दर्य का निर्देश इतनी सजीवता के साथ किया गया है कि पाठक इस श्लोक के सौन्दर्य से अभिभूत हो जाता है, आनन्दविभोर हो उठता है[१]। यही प्रभाववादी समीक्षक की सफलता भी है।

द्विवेदी जी की प्रमुख साहित्यिक देन है—खड़ीबोली को व्यवस्थित और व्याकरण-सम्पन्न करना। यह कार्य उन्होंने अपनी समालोचना द्वारा ही किया है। उनकी 'सरस्वती' में भाषा सम्बन्धी लेख और वाद-विवाद बराबर छपते रहते थे। भाषा-विज्ञान और व्याकरण का तो एक विशेष स्तम्भ ही था। इस प्रकार के लेखों का एक यह भी कारण था कि उस काल के विद्वानों में भाषा-सम्बन्धी वाद-विवाद छिड़ते रहते थे और इस कार्य में प्राय: सभी प्रमुख साहित्य-सेवी भाग लेते थे। 'भाषा और व्याकरण' नामक निबन्ध ऐसे ही वाद-विवाद के सिलसिले में लिखा गया है। इसमें बालमुकुन्द गुप्त के प्रतिवादों का तर्कयुक्त खण्डन है। 'अनिस्थिरता' शब्द पर भी पर्याप्त वाद-विवाद रहा। द्विवेदी जी की भाषा सम्बन्धी कटु आलोचना से लोग क्षुब्ध हो उठते थे और वैयक्तिक प्रहार करने लगते थे। कभी-कभी अनेक शब्दों को लेकर भी द्विवेदी जी को चुनौती दिया करते थे। जगन्नाथप्रसाद चतुर्वेदी 'मनसाराम' को कालिदास की निरंकुशता की प्रत्यालोचना करते समय ऐसा ही किया था। वे लिखते हैं—'जब तक मैं इधर उधर लेख तैयार करूं तब तक द्विवेदी जी महाराज आप कृपा करके 'बूंद'

और `रामायण` को पुल्लिंग सिद्ध कर दें[1]। " इस प्रकार हिन्दी में यह मल्ल-युद्ध बहुत दिनों तक चलता रहा। विभक्ति को हटाकर लिखना चाहिए अथवा सटाकर। यह भी बहुत वाद-विवाद का विषय रहा, इन्हीं संघर्षों के कारण भाषा में एक व्यवस्था भी आ सकी। द्विवेदी जी ने भाषा में व्यवस्था लाने का कार्य पुस्तकों, मासिक-पत्रों द्वारा भी किया।

भारतेन्दु काल और द्विवेदी काल में प्रारम्भिक वर्षों में `पुस्तक-परिचय` आलोचना का प्रधान स्वरूप था। इसलिए पत्र-पत्रिकाओं में इस स्तम्भ का पर्याप्त महत्व भी था। द्विवेदी जी ने मिश्र बन्धुओं के हिन्दी नवरत्न की आलोचना को पर्याप्त स्थान दिया है। उन्होंने लेखकों की अशुद्धियों का निर्देश करते हुए नायिका-भेद के स्थान पर नायक भेद तथा `अनुमति` का `सम्मति` के अर्थ में प्रयोग करने के लिए खेद प्रकट किया है[2]। हिन्दी कालिदास और कालिदास की निरंकुशता में भी कवि की भाषा पर ही अधिक लिखा गया है। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि द्विवेदी जी की आलोचना की यह भी एक प्रमुख विशेषता है।

हिन्दी का रीतिकाव्य तो प्रधानत: सिद्धान्त निरूपण का ही काल था। काव्य के सिद्धान्तों का विवेचन प्रत्येक कवि का एक विशेष कार्य हो गया था। यह सैद्धान्तिक विवेचन हिन्दी के आधुनिक काल में भी चलता रहा पर इसके आदर्श और प्रणाली में परिवर्तन होते रहे। गद्य के विकास तथा अंग्रेजी साहित्य के अध्ययन के प्रभाव से इस विवेचन ने एक नवीन रूप धारण कर लिया था। संक्षेप में सूत्रों का निर्देश करके उनकी व्याख्या अथवा उद्धरणों

१- निरंकुशता : निदर्शन; पृ०- ६

द्वारा स्पष्टीकरण की प्रणाली अब प्राय: लुप्त सी हो रही थी । इसी शैली में लिखा हुआ ` जगन्नाथ प्रसाद `, ` भानुकवि ` का ` काव्यप्रभाकर ` बहुत ही सुन्दर ग्रन्थ है। इसमें काव्य के सभी अंगों का विशुद्ध विवेचन है। भारतीय अलंकारशास्त्र के कतिपय शब्दों का अंग्रेजी अनुवाद भी दिया गया है। यह ग्रन्थ भारतेन्दु और द्विवेदी युग की सन्धि-काल की रचना है। साहित्य-सिद्धान्त के विवेचन के लिए विश्लेषण की शैली अपनाई गई थी । इन विषयों के लिये यही सर्वमान्य शैली है। भारतेन्दुकाल में ` कविकर्म ` और काव्यांगों पर पृथक रूप में बहुत ही कम लिखा गया । इस प्रकार इस काल की नवीन सैद्धान्तिक समालोचना का प्रारम्भ भी द्विवेदी जी से होता है। द्विवेदी जी के विवेचन पर जिन पूर्व और पाश्चात्य समालोचकों का प्रभाव पड़ा है, यह स्पष्ट नहीं होता है। परन्तु इतना अवश्य है कि वे दण्डी, क्षेमेन्द्र, मम्मट आदि कतिपय भारतीय आचार्यों के ऋणी हैं, उन्होंने अपने ` कवि और कविता ` नामक निबन्ध में काव्य के कारणों पर विचार करते हुए आचार्य दण्डी और मम्मट को उद्धृत किया है। द्विवेदी जी ने कविता और गद्य की भाषा को एक कर देने का जो आन्दोलन चलाया था उसकी प्रेरणा उन्हें वर्ड्सवर्थ के विचारों से मिली है। इतना ही नहीं उनके कविता-सम्बन्धी भाषा के विचार बहुत कुछ वर्ड्सवर्थ से मिलते-जुलते हैं। यद्यपि वर्ड्सवर्थ ने बाद में अपनी भूल में संशोधन भी कर लिया था। परन्तु द्विवेदी जी को ऐसा अवसर नहीं मिला।

द्विवेदी जी का सैद्धान्तिक विवेचन कवि कर्म-निरूपण की कोटि में ही आता है। इनकी बुद्धि सैद्धान्तिक निरूपण में ही अधिक रमती हुई प्रतीत

होती है। पर उसमें भी कुछ तो तत्कालीन प्रचलित शैली होने तथा कुछ लेखक-निर्माण-कार्य करते-करते अपनी ही प्रकृति के आदेशात्मक हो जाने के कारण द्विवेदी जी का विवेचन कुछ ही विषयों तक सीमित रहा है और उसका स्वरूप भी परिचयात्मक है। जिस वैयक्तिकता का समर्थन द्विवेदी जी ने अपनी अतिशयोक्तिपूर्ण शैली के कारण करते प्रतीत होते हैं वह काव्य के अग्राह्य है। इनका अभिप्राय काव्य के लिये कल्पना प्रसूत न होकर अनुभूति जन्य होने पर बल देते हैं।

द्विवेदी जी में युगान्तकारी व्यक्तित्व के साथ हिन्दी साहित्य में प्रवेश किया है। नवोत्थान या पुनर्जागरण के चिन्ह तो भारतेन्दुकाल में ही दृष्टिगोचर होने लगे थे। पर उस समय का प्रयास शैशव काल का ही रहा। भारतेन्दु जी ने यह कार्य प्रारम्भ करके निर्माण का सूत्र द्विवेदी जी के हाथ में दे दिया था और उसको पूर्ण यौवन के विकास तक पहुंचा देने का श्रेय द्विवेदी जी को है। उन्होंने इस मार्ग को इतना प्रशस्त कर दिया था कि परवर्ती कलाकारों को इस मार्ग का अवलम्बन करके साहित्य और जीवन में नूतन प्राण फूंक देने में पूर्ण सफलता मिली। भारतेन्दु जी से लेकर आज तक का सारा काल हिन्दी साहित्य का पुनरुत्थान-काल कहा जायगा। इसमें शताब्दियों से सोई हुई भारतीय आत्मा नवीन प्रगति के लिये जाग गई है। द्विवेदी जी की शंख-ध्वनि ने ही उसे जगाया है। उसके नेत्र अलसाये हुए थे। पर द्विवेदी जी के पैंतीस-चालीस वर्ष के अथक परिश्रम और निर्बाध शंख-ध्वनि ने इसे फिर से सोने नहीं दिया। हिन्दी साहित्य को बाध्य होकर जागना और नवीन जीवन प्रवाह में अपने-आपको डालना पड़ा।

द्विवेदी जी तक उनके समसामयिक अन्य साहित्यकारों को जो जागृति का सन्देश लेकर आये थे, पर्याप्त विरोध का सामना करना पड़ा। इनको अपनी शक्ति का अधिकांश तो केवल भाषा- निर्माण में ही लगा देना पड़ा। अपनी शेष शक्ति का उपयोग इन्होंने काव्य के वर्ण्य विषय और शैली के नवीन संस्करण में किया[1]।

भाषा को व्याकरण- सम्मत बनाने के अतिरिक्त द्विवेदी जी ने कविता और गद्य की भाषा को एक करने के बृहत् आन्दोलन को जन्म दिया। भारतेन्दु जी उत्थान के इस पथ का अवलम्बन नहीं कर पाये थे, इसलिये, इस कार्य- क्षेत्र में द्विवेदी जी की मौलिकता का एकाधिपत्य है। किसी भी देश के साहित्य में गद्य और पद्य में दो भिन्न भाषाओं का प्रयोग नहीं होता है, यह केवल हिन्दी का ही वैचित्र्य था। इस बात की ओर द्विवेदी जी ने हिन्दी साहित्य समाज का ध्यान कई बार आकृष्ट किया है[2]।

यह युग की आकांक्षा थी और द्विवेदी जी थे इसकी पूर्ति के माध्यम। युग की चेतना को पहचानना ही आलोचक की योग्यता है। द्विवेदी जी की सफलता की कुंजी यही है; अन्यथा रत्नाकर जी जैसे प्रतिभाशाली कवियों की मधुरता परिमार्जित और भाव-सौन्दर्य- समन्वित ब्रजभाषा के समक्ष नीरस, कठोर और केवल कला- प्रभाव को लेकर चलने वाली खड़ीबोली के स्वागत की कल्पना भी नहीं की जा सकती थी। इसमें कोई सन्देह नहीं कि द्विवेदी जी ने अपने समसामयिकों के सहयोग से खड़ीबोली को काव्य की परिभाषा बना

१- हिन्दी आलोचना उद्भव और विकास : भगवतस्वरूप मिश्र, पृ०- २६२

२- वही, २६२

देने का आन्दोलन जिस समय प्रारम्भ किया था उस समय खड़ीबोली में काव्योपयोगी गुणों का अभाव ही था । ब्रजभाषा जैसी मधुरता और कोमलता तो उसमें थी ही नहीं । जीवन के विभिन्न स्वरूपों के चित्रण के उपयुक्त शब्दकोष का भी अभाव ही था । ऐसी अवस्था में ब्रज जैसी भाषा को चुनौती देना एक आश्चर्य की ही बात थी । पर युग परिवर्तनशील आकांक्षा के सम्मुख ब्रजभाषा न ठहर सकी । उसमें नूतन युग- चेतना के भावबोध एवं चिन्तन को साकार करने की क्षमता का अभाव था । "रत्नाकर की मधुर बीन के सामने द्विवेदी जी के समय के कवियों का शंखनाद कर्कश था— किन्तु स्वागत उसी का किया गया । नया जीवन प्रवाह उसी में पाया गया । ब्रजभाषा मंजकर कोमल, मधुर और श्रृंगार- प्रधान भावों के उपयुक्त हो गयी थी, पर उसमें जीवन की गम्भीर कटुता और बौद्धिकता के उपयुक्त कठोरता और प्रौढ़ता नहीं आ पायी थी । उसमें प्रौढ़ता विचारों के अभिव्यक्ति करने की क्षमता का अभाव था । यही कारण है कि इतनी शताब्दियों में भी उसका गद्य अविकसित ही रहा और जीवन की नवीन बौद्धिक आवश्यकताओं के लिए खड़ीबोली को अपनाना पड़ा । " बाजपेयी जी के शब्द वस्तुस्थित का वर्णन कर रहे हैं । ब्रजभाषा साहित्य ने आधुनिक युग की भावनाओं से अपना सम्बन्ध- विच्छेद कर लिया था, इसलिए ब्रज प्राचीन युग की भाषा बनकर धीरे - धीरे साहित्य क्षेत्र से लुप्तप्राय सी हो गई है । द्विवेदी जी के इन विचारों का प्रत्येक देश का इतिहास समर्थन कर रहा था । भारत में प्राकृत, अपभ्रंश आदि विभिन्न भाषाओं का विभिन्न समयों में साहित्य की मान्य भाषा लुप्त हो जाने का इतिहास द्विवेदी जी की शंख- ध्वनि में स्वर

मिला रहा है। इनके खण्डहर प्रत्येक भाषा को सचेत कर रहे हैं। जो इनके मूक सन्देश से शिक्षा ग्रहण करते समय अनुरूप विकास नहीं कर पातीं उनकी भी यही गति होती है। ब्रजभाषा ने इसी मार्ग का अवलम्बन किया था।

द्विवेदी जी के समालोचना-क्षेत्र का दूसरा आन्दोलन था काव्य के वर्ण्य-विषयों में आमूल परिवर्तन। कवियों का क्षेत्र नायिका-भेद, हाव-भाव, रसकेलि, अभिसार आदि तक ही सीमित है, ऐसा द्विवेदी जी नहीं मानते हैं। इन विषयों पर पर्याप्त रचनाएं हो चुकी थीं, इसलिए इन विषयों को छोड़कर जीवन के अन्य क्षेत्रों की ओर वे कवि समाज का ध्यान आकृष्ट कराना चाहते थे। काव्य के नवीन वर्ण्य विषय को अपनाना युग का धर्म था। इसलिए प्राय: प्रत्येक कलाकार और आलोचक का इसी ओर झुकाव हो गया था। लेकिन द्विवेदी जी तो इस आन्दोलन के प्रमुख नेताओं में से थे। इन्होंने अपने सम्पादन-काल के प्रारम्भिक वर्षों में हिन्दी साहित्य की दुर्दशा पर कुछ व्यंग्य चित्र प्रकाशित किये थे। इन चित्रों से साहित्य क्षेत्र में एक क्रान्ति सी आ गई और प्राचीन ढंग के आलोचक और कवि क्षुब्ध हो उठे थे। बाद में इस व्यापक क्षोभ और विरोध के कारण उन्हें व्यंग्य-चित्रावली बन्द भी करनी पड़ी। द्विवेदी जी इसे उपादेय समझते थे। वस्तुत: इसने साहित्य में खलबली मचा दी थी। समस्या-पूर्ति करने वाले नायिका-भेद, अलंकार आदि पर लिखने वाले कवियों का द्विवेदी जी ने घोर विरोध किया। द्विवेदी जी के प्रयत्न से ही मुक्तकों का स्थान प्रबन्ध-काव्य ने ले लिया और प्राय: शताब्दियों से अवरुद्ध प्रबन्ध धारा फिर से प्रवाहित हो उठी। काव्य के सर्वतोन्मुखी विकास के लिये रीतिकालीन काव्य-धारा का विरोध आवश्यक

था। काव्य क्षेत्र में उसकी भाषा, शैली, वर्ण्य-विषय आदि सभी वस्तुओं के आधिपत्य को कम कर देने की आवश्यकता थी और यही कार्य द्विवेदी जी ने किया था। रत्नाकर जी जैसे मध्यकालीन प्रवृत्तियों और शैली में सृजन वाले व्यक्तियों पर भी इस क्रान्ति का पर्याप्त प्रभाव पड़ा था। उन्होंने भक्तिकालीन वर्ण्य विषय को ही अपना क्षेत्र बनाया। उन्होंने अपनी भाषा को भी रीतिकालीन कृत्रिमता से मुक्त कर दिया था। उसमें लाक्षणिकता, वैचित्र्य, चमत्कारप्रियता आदि तो रहे, पर भक्तिकालीन सरसता और भाव-व्यंजकता ने उन सबमें स्वाभाविकता ला दी थी। कहने का तात्पर्य यह है कि इस आन्दोलन के कवि, पाठक और आलोचक सभी पर व्यापक प्रभाव पड़ा है। यही कारण है कि इसको 'पुनरुत्थान काल' कहा जा सकता है।

द्विवेदी जी ने रीतिकालीन सोरठा, कवित्त आदि कतिपय छन्दों के स्थान पर कई अन्य छन्दों के प्रयोग की प्रेरणा दी। उन्होंने संस्कृत और उर्दू के वृत्तों के प्रयोग का तो जोरदार शब्दों मे समर्थन किया[1]। द्विवेदी जी ने अतुकान्त छन्दों में कविता करने के लिये तो एक आन्दोलन को ही जन्म दे दिया था। इसके फलस्वरूप हिन्दी कविता अपने सीमित क्षेत्र से निकलकर उन्मुक्त और स्वच्छन्द वातावरण में आ गई थी। प्रबन्ध-मुक्तक, और गीति-काव्य के सर्वांगीण विकास के लिए इस बात की बहुत अधिक आवश्यकता थी। द्विवेदी जी अपने काव्य सम्बन्धी विचारों में पूर्णत: स्वच्छन्दतावादी थे। वे प्रतिभा को नियमों से जकड़ देने के विरोधी थे[2]। आधुनिक काल में स्वच्छन्दतावादी काव्यधारा आई, उसके प्रारम्भिक विकास के स्पष्ट लक्षण

१- रसज्ञ-रंजन : पृ०-३-५

२- समालोचना-समुच्चय में 'हिन्दी नवरत्न' नामक निबन्ध

द्विवेदी जी में मिलते हैं। कविता और पद्य के अभिन्न सम्बन्ध की बद्धमूल धारणा को द्विवेदी जी ने उखाड़ कर फेंक दिया था। उनके द्वारा गद्य-काव्य को भी काव्य माने जाने की स्वीकृति प्राप्त हो गई थी। उन्होंने गद्य काव्य के कवित्व को मुक्त कण्ठ से उद्घोषित किया। इस गद्य - पद्य के कृत्रिम भेद के लुप्त हो जाने पर उपन्यास, कहानी, निबन्ध आदि को भी स्वीकृति प्राप्त हो गई थी। द्विवेदी जी ने भी कवि- प्रतिभा की स्वच्छन्दता स्वीकार की है न कि उच्छृंखलता। अतः स्वच्छन्दता का यह तात्पर्य नहीं है कि वे कवि को देश- काल के प्रभाव के भी सर्वथा मुक्त समझते थे। देश-काल का महत्व स्वीकार करते हुए उन्होंने प्रत्येक काल के कवि के लिए आलोचना के भिन्न- भिन्न मानदण्डों को भी स्वीकार किया है— देव, मतिराम आदि का सामयिक महत्व ही है; इसलिये उनकी आलोचना करते समय तत्कालीन परिस्थितियों का ध्यान रखना आवश्यक है; लेकिन तुलसीदास जी का चिरंतन महत्व भी है। इसमें दोनों के मूल्यांकन के लिए मानदण्डों का अन्तर भी द्विवेदी जी को मान्य है। द्विवेदी जी को ये दोनों बातें स्वीकृत हैं[1]।

द्विवेदी जी युग प्रवर्तक थे। स्वच्छन्दतावाद के प्रथम सन्देशवाहक थे। वे इस नवीन युग के आदि पुरुष हुए हैं, इसलिए वे सब क्षेत्रों में नवीनता के समर्थक थे। वाजपेयी जी द्विवेदी जी के बारे में ठीक ही लिखते हैं।

" द्विवेदी जी का व्यक्तित्व मूलतः सुधारक और प्रवर्तक व्यक्तित्व है। उन्होंने समस्त प्राचीन को ताक पर रखकर नवीन अभ्यास और नये अनुभवों का रास्ता पकड़ा। हिन्दी की किसी भी प्राचीन परम्परा के वे कायल न थे। संस्कृत

१- हिन्दी आलोचना उद्भव और विकास : भगवतस्वरूप मिश्र, पृ०- २६४

से उनका प्रेम अवश्य था, पर वह भी उतना ही, जितना नवीन हिन्दी को स्वरूप देने के लिये आवश्यक था। इसीलिये द्विवेदी जी की शैली में सम्पूर्णत: नवीनता के दर्शन होते हैं[1]। इस प्रकार द्विवेदी जी को आधुनिक स्वच्छन्दतावादी युग के आदि प्रवर्तक मानने के पर्याप्त कारण हैं।

द्विवेदी जी सूर और तुलसी की उस काल में उत्पत्ति एक आकस्मिक घटना मानते हैं स्वयं ये काल और कवि का सम्बन्ध मानते थे, पर यहां पर उन्होंने यह अस्वीकार कर दिया। वस्तुत: इस काल में आलोचना का एक आवेश होता था और उसमें कभी-कभी सत्य वस्तु का ध्यान भी नहीं रह पाता था। प्राय: आलोचना-प्रत्यालोचना में तो इस आवेश के दर्शन हो ही जाते थे। प्रत्यालोचना की शैली भी आलोच्य वस्तु की सी होती थी। 'कालिदास की निरंकुशता' की प्रत्यालोचना करते हुए मनसाराम ने यही किया है, स्वयं द्विवेदी जी भी ऐसा कर सकते थे। इस काल की आलोचना में व्यंग्य, वैयक्तिक आक्षेपों का अभाव नहीं है। यह तो एक प्रकार से काल की शैली का एक तत्व ही प्रतीत होता है। आलोचक से न्यायाधीश की तुलना तो द्विवेदी जी ने कर दी, पर उसका सर्वत्र निर्वाह नहीं है[2]।

द्विवेदी जी की आलोचना सम्बन्धी धारणाएं इस युग की प्रतिनिधि हैं। प्रयोगात्मक आलोचनाओं की अपेक्षा उनके द्वारा किये गये साहित्यिक आन्दोलन अधिक महत्वपूर्ण हैं। इन आन्दोलनों का युगान्तकारी प्रभाव पड़ा। सारा

१- हिन्दी साहित्य : बीसवीं सदी; भूमिका भाग से उद्धृत, पृ०- ६

२- हिन्दी आलोचना : उद्भव और विकास : भगवतस्वरूप मिश्र, पृ०- २६६

आधुनिक साहित्य इन्हीं का परिणाम है। द्विवेदी जी के आलोचक का यही महत्वपूर्ण अंश है, जिसकी समता हिन्दी का अन्य कोई भी आलोचक नहीं कर पाता। अग्रदूत होने के कारण उनका महत्व अधिक है। उन्होंने 'सरस्वती' द्वारा आलोचना का विस्तृत क्षेत्र तैयार कर दिया। तत्कालीन आलोचनाओं में तुलनात्मक ऐतिहासिक, शास्त्रीय, स्वच्छन्दतावादी आदि कतिपय विभिन्न आलोचनाओं के बीज निहित हैं, जिनका काल-क्रम के बाद में विकास हुआ है। काव्य क्षेत्र में तो द्विवेदी जी ने इतिवृत्तात्मक नाम से एक नवीन काव्य-शैली को ही जन्म दे दिया था, पर आलोचना में उन्होंने सुरुचि के द्वारा आदर्शवादी एवं नीतिवादी प्रवृत्ति की जड़ जमा दी, यह इस युग के साहित्य और समीक्षा के मूल स्वरों में से एक हो गई। शुक्ल जी तक तो यह चेतना स्पष्टत: विकसित होती रही और परवर्तीकाल के लेखक और आलोचक भी उसको आसानी से उखाड़कर फेंक नहीं सके हैं। आज भी आलोचक कलात्मकता के महत्व को स्वीकार करता हुआ भी इस नीतिवाद की नितांत अवहेलना नहीं कर सकता है[1]।

द्विवेदी युग के आदर्शों को स्पष्ट करते हुए वाजपेयी जी लिखते हैं : 'द्विवेदी जी और उनके अनुयायियों का आदर्श, यदि संक्षेप में कहा जाय तो समाज में एक सात्विक भाव की ज्योति जगाना था। दीनता और दरिद्रता के प्रति सहानुभूति, समय की प्रगति का साथ देना शृंगार के विलास-वैभव का निषेध— ये सब द्विवेदी युग के आदर्श हैं।'

1- हिन्दी आलोचना उद्भव और विकास : भगवतस्वरूप मिश्र, पृ०- २६७

भारतेन्दु-काल से ही हम देखते हैं कि हिन्दी में पत्र-पत्रिकाओं द्वारा समालोचना-साहित्य की अभिवृद्धि प्रारम्भ हो गई थी। आज भी पत्र-पत्रिकाओं द्वारा हिन्दी की यह सेवा हो रही है। भारतेन्दु और द्विवेदी-युग की सन्धि में भी ऐसी पत्रिकाएं थीं, जिनका प्रधान कार्य-क्षेत्र समालोचना ही था। जैसे 'समालोचक,' नागरी प्रचारिणी पत्रिका और 'साहित्य समालोचक' आदि। हिन्दी पर अंग्रेजी, बंगला, मराठी आदि साहित्यों का प्रभाव भी पड़ रहा था। द्विवेदी जी के समसामयिक ही कतिपय ऐसे लेखक थे जिनकी आलोचना में कुछ गम्भीरता के दर्शन प्रारम्भ हो चुके थे। द्विवेदी जी की आलोचना में जहां परिचयात्मक ही अधिक है, वहां पर उन कतिपय आलोचकों की शैली विश्लेषणात्मक होती जा रही थी। द्विवेदी जी के व्यक्तित्व में इतना विकास नहीं हुआ, पर इस काल में अन्य बहुत से लेखक इस क्षेत्र में पर्याप्त आगे बढ़ चुके थे। बाबू श्यामसुन्दरदास जी भी द्विवेदी जी के समसामयिक हैं इनकी आलोचना विश्लेषण पथ को लेकर काफ़ी आगे बढ़ी। 'बाबू श्यामसुन्दरदास' जी ने 'हिन्दी साहित्य के इतिहास' में रीतिकाल के प्रति अपनी धारणाएं व्यक्त करते हुए कहते हैं कि हिन्दी में भी सूर और तुलसी के समय तक साहित्य की इतनी अधिक अभिवृद्धि हो चुकी थी कि कुछ लोगों का ध्यान भाषा और भावों को अलंकृत करने तथा संस्कृत की काव्य-रीति का अनुसरण करने की ओर खिंच रहा था। इसका यह अर्थ नहीं है कि सूर और तुलसी तथा उनके पूर्व के सत्कवियों में आलंकारिकता नहीं थी अथवा वे काव्य-रीति से परिचित ही न थे। स्वयं महात्मा तुलसीदास जी ने अपनी अनभिज्ञता का विज्ञापन देते हुए भी ब्रज और अवधी दोनों भाषाओं पर अपना पूर्ण आधिपत्य तथा काव्य-रीति का सूक्ष्मतम ज्ञान दिखाया है।

अन्तर इतना ही है कि उन्हें काव्य कला को साधन मात्र बनाकर रचना करनी थी, साध्य बनाकर नहीं। अतएव उन्होंने अलंकारों आदि से सहायक का काम लिया है, स्वामी का नहीं। इसके विपरीत पीछे के जो कवि हुए हैं उन्होंने काव्य-कला की परिपुष्टि को ही प्रधान मानकर शेष सब बातों को गौण स्थान दिया, और मुक्तकों के द्वारा एक-एक अलंकार एक-एक नायिका अथवा एक-एक ऋतु का वर्णन किया है। आगे चलकर यह प्रथा इतनी प्रचलित हुई कि बिना रीतिग्रन्थ लिखे कवि कर्म पूरा नहीं समझा जाने लगा। हिन्दी साहित्य के इस काल को हम इसीलिए रीतिकाल कहते हैं[1]।

धार्मिकता के भाव से प्रेरित होकर जिस सरस तथा सुन्दर साहित्य का सृजन हुआ, वह वास्तव में हमारे गौरव की वस्तु है, परन्तु समाज में जिस प्रकार धर्म के नाम पर ढोंग रचे जाते हैं तथा गुरुदम्भ का प्रचार होने लगता है; उसी प्रकार साहित्य में भी धर्म के नाम पर पर्याप्त अनर्थ होता है। हिन्दी साहित्य के क्षेत्र में हम यह अनर्थ दो मुख्य रूपों में देखते हैं। एक तो साम्प्रदायिक कविता तथा नीरस उपदेशों के रूप में और दूसरा 'कृष्ण' का आधार लेकर की हुई हिन्दी के शृंगारी कवियों की कविता के रूप में। हिन्दी में साम्प्रदायिक कविता का एक युग ही हो गया है और 'नीति' के दोहों की तो अब तक भरमार है। अन्य दृष्टियों से नहीं तो कम से कम शुद्ध साहित्यिक समीक्षा की दृष्टि से ही सही, साम्प्रदायिक तथा उपदेशात्मक साहित्य का अत्यन्त निम्न स्थान है, क्योंकि नीरस पदावली में दिये गये कोरे उपदेशों में कवित्व की मात्रा बहुत थोड़ी होती है। राधा-कृष्ण को

१- हिन्दी साहित्य का इतिहास : बाबू श्यामसुन्दरदास, पृ०- २४१

अवलम्बन मानकर हमारे शृंगारी कवियों ने अपने कलुषित तथा वासनामय उद्गारों को व्यक्त करने का जो ढंग निकाला वह समाज के लिये हितकर सिद्ध न हुआ। यद्यपि आदर्श की कल्पना करने वाले कुछ साहित्य-समीक्षक इस शृंगारिक कविता में भी उच्च आदर्शों की उद्भावना कर लेते हैं, पर फिर भी हम वस्तुस्थिति की किसी प्रकार अवहेलना नहीं कर सकते। यह ठीक है कि सब प्रकार की शृंगारिक कविता ऐसी नहीं है कि उसमें शुद्धप्रेम का अभाव तथा कलुषित वासनाओं का ही अस्तित्व हो, पर यह स्पष्ट अवश्य है कि पवित्र भक्ति का आदर्श, समय पाकर, लौकिक शरीरजन्य तथा वासनामूलक प्रेम में परिणत हो गया था। बात यह है कि भक्ति और शृंगार दोनों का मूल भाव रति ही है, और भगवद्विषयक रति तथा दाम्पत्य रति में प्रधान भेद केवल अवलम्बनगत है। माधुर्यभाव की भक्ति भक्त और भगवान के बीच दाम्पत्य सम्बन्ध की ही भावना को लेकर चलती है, अतः राधाकृष्ण आदि दिव्य अवलम्बनों पर से ध्यान हटते ही उसमें और शृंगार में कोई अन्तर नहीं दिखाई देता। दोनों के आलम्बनगत इस सूक्ष्म भेद पर दृष्टि न रखने के कारण ही भक्तों में जहां शृंगार का वर्णन केवल भगवत्प्रेम की व्यंजना के लिए रूपक मात्र था वहां पीछे के शृंगारी कवियों में कृष्ण और राधा सामान्य लौकिक नायक और नायिका के पर्याय हो गए। प्रतिभाशाली तथा विलक्षण कवि अथवा लेखक कभी-कभी स्वतन्त्र रीति की वाणी के विलास में प्रवृत्त होते हैं और समाज की साधारण स्थितियों का उन पर प्रायः कुछ भी प्रभाव नहीं पड़ता है। अधिकतर यही देखा जाता है कि जो कवि जितना ही अधिक स्वतन्त्र तथा मौलिक विचार वाला होता है वह समाज की लकीर पर चलना

उतना ही अधिक अस्वीकार करता है और उतना ही अधिक वह साहित्य में साधारण प्रवाह से दूर पहुंच जाता है। हिन्दी के प्रमुख वीर कविताकार " भूषण " ने देश भर में विस्तृत रूप में व्याप्त शृंगारी - परम्परा के युग में जिस स्वतन्त्र पथ का अवलम्बन किया उससे हमारे इस कथन का प्रत्यक्ष रीति से समर्थन होता है।

द्विवेदी जी ने गुण दोष- विवेचन की परिचयात्मक शैली को अपनाया था, जिसमें वे तर्क के साथ कभी - कभी कटाक्ष और व्यंग्य भी करते थे। व्यंग्य और कटाक्ष उस काल की प्रमुख विशेषता रही है। द्विवेदी जी की आलोचना विकासशील रही है। " हिन्दी- नवरत्न " की आलोचना में अनेक स्थानों पर उनकी प्रौढ़, गम्भीर और तर्कपूर्ण शैली के भी दर्शन हो जाते हैं। तुलसी और मतिराम केएक कोटि में रख देने के कारण द्विवेदी जी का भारतीय संस्कृति और मानव के उच्च आदर्शों का प्रेम इस आघात से जाग गया था। इसी उनके गम्भीरतापूर्वक चिन्तन गम्भीर हो गए हैं। यह निबन्ध उनके विकासमान व्यक्तित्व का परिचायक है इसमें उनके प्रौढ़ आलोचनात्मक दृष्टिकोण का व्यावहारिक उपयोग हुआ है।

द्विवेदी जी के ही आलोचना के दूसरे पहलू पर हम विचार करेंगे जो शास्त्रीयता का आग्रह के नाम से जाना जाता है जिसमें मिश्र बन्धु के समय के सभी कवि महाशयो की तुलनात्मक प्रक्रिया के दर्शन होंगे।

(ख) शास्त्रीयता का आग्रह

द्विवेदी युग में आलोचना प्रक्रिया के मुख्य चार पहलू रहे जिनमें हम प्रथम पहलू पर तो विचार कर चुके हैं परन्तु इस युग का दूसरा पहलू शास्त्रीयता का आग्रह आता है।

द्विवेदी जी ने साहित्य समालोचना की जिस शैली और जिन मापदण्डों को अपनाया था, उनमें स्थायित्व है। इसमें वे अपने युग का प्रतिनिधित्व करते हैं। वस्तुत: द्विवेदी जी तो अपने काल की भावनाओं और विचारों का मूर्तिमान रूप थे। वे अपने काल के प्रथमदर्शक रहे।

मिश्रबन्धु की आलोचना प्रक्रिया में साहित्यिक सौन्दर्य, कवि का जीवन-दर्शन आदि गम्भीर वस्तुओं का बहुत कुछ प्रौढ़ विवेचन है। मिश्र बन्धुओं में दोषों की अपेक्षा कवि के गुणों को देखने की प्रवृत्ति अधिक है। इस प्रकार व्यावहारिक समीक्षा के क्षेत्र में इनका प्रयास स्पष्टत: ही द्विवेदी जी की अपेक्षा प्रौढ़तर है।

हिन्दी-साहित्य में मिश्र बन्धुओं के नाम से रचना करने वाले एक नहीं हैं यह तो इस नाम से ही स्पष्ट है। पहले ये तीनों भाई—पण्डित गणेशबिहारी, रायबहादुर पण्डित श्यामबिहारी और रायबहादुर पण्डित शुकदेवबिहारी मिश्र बन्धुओं के नाम से साहित्य क्षेत्र में अवतीर्ण हुए थे। इन तीनों द्वारा हिन्दी साहित्य का 'हिन्दी नवरत्न' और 'मिश्रबन्धु विनोद' नामक दो आलोचना ग्रन्थ प्राप्त हुए। अपने काल में ये ग्रन्थ अपने क्षेत्र में अद्वितीय थे। मिश्रबन्धु जी द्विवेदी जी के समसामयिक हैं। द्विवेदी जी ने जिस परिचयात्मक और निर्णयात्मक आलोचना-शैली को

जन्म दिया था, उसी का अनुसरण करके मिश्रबन्धुओं ने भी अपने प्रसिद्ध ग्रन्थों का निर्माण किया है। `काशी नागरी प्रचारिणी सभा` की पत्रिका अपने गवेषणात्मक लेखों द्वारा कवियों के जीवन का प्रामाणिक और ऐतिहासिक विवरण उपस्थित कर रही थी। यह निरूपण शैली की दृष्टि से अत्यन्त प्रौढ़ है। कवियों की जीवनी भी बाह्य तथा अन्त: दोनों साक्ष्यों पर अधिष्ठित थी। मिश्रबन्धुओं ने अपनी आलोचना प्रारम्भ की थी, उस समय दो स्पष्ट शैलियां प्रचलित थीं। एक द्विवेदी जी की प्रमुखत: दोषान्वेषिणी परिचयात्मक शैली तथा दूसरी नागरी प्रचारिणी की ऐतिहासिक और साधारण विश्लेषणात्मक शैली। मिश्र बन्धुओं में इन दोनों परम्पराओं का स्पष्ट सम्मिश्रण मिलता है। हिन्दी समालोचना क्रमश: प्रौढ़, गम्भीर, विश्लेषणात्मक और स्वच्छन्दतावादी होती गई है और इसमें इनकी आलोचना विकास की दूसरी सीढ़ी मानी जा सकती है।

मिश्रबन्धुओं का दृष्टिकोण भी प्राय: गुण-दोष-निरूपण का ही रहा। उन्होंने इसको आलोचना का विशेष गुण भी माना है। " फिर भी कवियों की योग्यतानुसार लेखों में उनके गुण-दोष दिखलाने का यथासाध्य प्रयत्न किया गया है। वर्तमान समय के लेखकों की रचनाओं पर समालोचना लिखने का कुछ भी प्रयत्न नहीं किया गया। उनके ग्रन्थों के नाम और मोटी रीति से दो एक अति प्रकट गुण-दोष लिखने पर ही हमने सन्तोष किया है।" इन शब्दों में मिश्रबन्धुओं का दृष्टिकोण स्पष्ट है। फिर भी उन्होंने इस विवेचन का आधार केवल शास्त्रीय ही नहीं माना। काव्य की विशेषताओं का निरूपण प्रधानत: रस, अलंकार, गुण, छन्द आदि परम्परागत शास्त्रीय

मानदण्डों के आधार पर ही किया गया है। देव तथा अन्य बहुत से कवियों के छन्दों की विस्तृत आलोचना इसी आधार पर हुई है। पर उन्होंने अपनी आलोचना के मानों का विवेचन करते हुए यह भी कह दिया है कि समालोचक को रस, ध्वनि, गुण, अलंकार आदि के अतिरिक्त अन्य बहुत-सी बातों का भी विचार करना पड़ता है। आलोचक शील एवं ` भारी ` वर्णनों के सम्मिलित प्रभाव की दृष्टि से भी आलोच्य वस्तु को देखता है[1]। हिन्दी-नवरत्न के कवियों की आलोचना में उन्होंने इसी दृष्टिकोण से विचार किया है। उन्होंने कवि के सन्देश और उसकी अभिव्यक्ति के सौष्ठव को भी आलोचना का आधार माना । समीक्षा के आधार काफ़ी व्यापक हैं। मिश्र बन्धुओं के पूर्व हिन्दी में इतनी व्यापक दृष्टि से कवियों पर किसी ने विचार नहीं किया था।

मिश्रबन्धु के आलोचना की सबसे बड़ी विशेषता है—श्रेणी विभाजन। ` हिन्दी नवरत्न ` का मूल आधार यही है। इस ग्रन्थ में हिन्दी के सर्वश्रेष्ठ कवियों पर इसी दृष्टि से आलोचना हुई है। इस ग्रन्थ में हिन्दी के सर्वश्रेष्ठ कवियों पर इसी दृष्टि आलोचना हुई है। इन कवियों को इस ग्रन्थ में काल-क्रम से स्थान नहीं मिला है, पर काव्योत्कर्ष के आधार पर इन कवियों में ऊँच-नीच का भेदभाव कर लिया गया है[2]। ` लेखकों में बृहत्त्रयी और मध्यत्रयी और लघुत्रयी की कल्पना की गई है और प्रत्येक श्रेणी में तीन-तीन कवियों को स्थान दिया गया है, जैसा कि इस ग्रन्थ के नाम से ही स्पष्ट है। प्रथम श्रेणी में सूर, तुलसी और देव, दूसरे में बिहारी, भूषण और केशव तथा

१- मिश्रबन्धु- विनोद : भूमिका, पृ०- १३

२- हिन्दी नवरत्न :(भूमिका); मिश्रबन्धुओं, पृ० - ३४

तीसरे में मतिराम और हरिश्चन्द्र हैं। लेखकों की दृष्टि से मध्यत्रयी और लघुत्रयी में जिस क्रम से कवियों के नाम दिये गये हैं, उसी क्रम से उनमें काव्योत्कर्ष और श्रेष्ठता भी है। पर ब्रहत्रयी के तीनों कवि समान ही हैं। ये तीनों काव्य के विभिन्न गुणों में एक दूसरे से बढ़कर हैं। पर कुल मिलाकर इन तीनों में कोई छोटा-बड़ा नहीं है, सब बराबर है। बृहत्रयी के कवियों में भी श्रेणी और उत्कर्षापकर्ष निश्चित करने का प्रयत्न लेखकों ने कई बार किया है, और इसमें हर बार उनका मत बराबर बदलता गया। पहले ये लोग देव को ही काव्य-गुणों की दृष्टि से सर्वोत्कृष्ट मानते रहे, पर बाद में उन्होंने यह विचार छोड़ दिया। अन्त में उनका विश्वास तुलसी, सूर और देव को इसी क्रम से श्रेष्ठ मानने में जमा[1]। इन्हें देव को तुलसी और सूर से उत्कृष्ट कवि मानने में हिचकिचाहट का अनुभव होने लगा[2]। बाद में उन्होंने स्पष्टतः तुलसी को हिन्दी-साहित्य का सर्वोत्कृष्ट कवि घोषित किया[3]।

'हिन्दी नवरत्न' के त्रयी निर्माण और उसमें कवियों को स्थान देने में लेखकों को बहुत ऊहापोह करनी पड़ी है। उन्हें समय-समय पर कई कवियों में काव्योत्कर्ष प्रतीत होता जा रहा है। लेखकों ने अपनी मानसिक ऊहापोह का निर्देश 'हिन्दी नवरत्न' की भूमिका में स्वयं कर दिया है। पहले वे मतिराम को भूषण से अच्छा समझते रहे। बाद में उनके इस मत में परिवर्तन हो गया। भूषण और बिहारी की तुलना करने पर उन्हें भूषण की

१- हिन्दी नवरत्न : मिश्रबन्धुओं, पृ०- ३४

२- वही, पृ०- ३०५

३- वही, पृ०- ३४६

बिहारी की अपेक्षा प्रौढ़ता में सन्देह होने लगा। फिर तो उनको बिहारी की श्रेष्ठता में पूरा विश्वास हो गया। कुछ दिनों तक जायसी की कविता में उन्हें सौन्दर्य प्रतीत होता रहा, पर बाद में बहुत अधिक अनुशीलन करने के बाद उन्हें जायसी का कवित्व फीका प्रतीत होने लगा। उन्हें जायसी `तोष` की श्रेणी के उपयुक्त प्रतीत हुए। इसके बाद तो कवियों की अन्तिम श्रेणी `हीन` हो जाती है। सेनापति का काव्य-सौन्दर्य भी मतिराम की अपेक्षा हल्का प्रतीत हुआ। इसलिए उन्हें नवरत्नों में स्थान नहीं दिया जा सका, उन कवियों को `मिश्रबन्धुविनोद` में जिन कवियों को स्थान नहीं दिया जा सका[1]। `हिन्दी नवरत्न` में जिन कवियों को स्थान नहीं दिया जा सका, उन कवियों को `मिश्रबन्धु विनोद` में कुछ श्रेणियों में बांट दिया गया है। इनमें पहले दो मुख्य श्रेणी मान ली गई और फिर उनके अवांतर भेदों का उल्लेख किया गया। कथा-प्रसंग वाले कवियों का उन्होंने `लाल छत्र` और `मधुसूदन` नामक तीन श्रेणियों में बांट दिया और कथा-प्रसंग के सम्बन्ध न रखने वालों को—(१) सेनापति, (२) दास, (३) पद्माकर, (४) तोष, (५) साधारण और (६) हीन। इस प्रकार मिश्रबन्धुओं ने अपने दोनों ग्रन्थों में श्रेणी-विभाजन को ही मूल उद्देश्य समझा है। कवियों की सारी विशेषताओं का अनुशीलन कर लेने के बाद उस कवि को किसी श्रेणी में रख देने में ही इनको आलोचना की पूर्णता प्रतीत होती है। जैसा कि कई स्थानों पर मिश्रबन्धुओं ने निर्देश किया है कि यह श्रेणी विभाजन एक प्रकार का निर्वाचन अथवा परीक्षण-प्रणाली सी है। दो कवियों के एक छन्द की

१- हिन्दी नवरत्न : मिश्रबन्धुओं, पृ०- ३३

उत्कृष्टता और हीनता पर लेखकों ने विचार किया है और जिसके अधिक उत्कृष्ट छन्द हुए उसको ऊंची-श्रेणी में स्थान मिल गया। उन्होंने यह निर्देश किया है कि किस प्रकार छन्दों की तुलना और श्रेष्ठ छन्दों की गणना से उन्होंने भूषण को मतिराम और केशव की अपेक्षा श्रेष्ठ माना है[1]।

उपर्युक्त के विवेचन से स्पष्ट हो गया है कि श्रेणी-विभाजन का मूल तुलना ही है। `मिश्रबन्धु विनोद` की भूमिका में देव, बिहारी, तुलसी के कतिपय छन्दों की विस्तृत आलोचना है। प्राचीन शास्त्रीय ढंग की यह बहुत ही प्रौढ़ विशद एक विद्वत्तापूर्ण आलोचना है। पर तीनों कवियों की श्रेष्ठता और श्रेणी विभाजन में उन गुणों का उल्लेख नहीं हुआ है जिनके कारण देव अथवा तुलसी को बिहारी और अन्य कवियों से ऊंचा स्थान मिला है उन्होंने केवल इतना ही निर्देश किया है कि हमने यह प्रणाली अपनाई है, पर इस प्रणाली के आधार पर यह निष्कर्ष कैसे निकल आया जिस पर मिश्रबन्धु पहुंचे हैं, इन सब बातों में मिश्रबन्धु मौन हैं[2]। इसके अतिरिक्त भी इनकी आलोचना में तुलना की है। हिन्दी कविता के भक्तिकाल के लेखकों ने अंग्रेजी के रिनांसा और रिफार्मेसन काल के कवियों से तुलना की है। रीतिकाल को `आगस्टन` एज कहा है। चन्द और चासर की एवं शेक्सपियर और तुलसी की तुलना हुई है। तुलसी और शेक्सपियर की तुलना में इन दोनों कवियों पर कई दृष्टियों से विचार हुआ है। यहां पर भी लेखक तुलसी को शेक्सपियर से ऊंचा कहकर श्रेणी-विभाजन के लोभ का संवरण नहीं कर सके हैं। `विंटरटेल` के प्रेम की, सीता के प्रेम-वर्णन से, आमागे की धूर्तता की भानुप्रताप कथान्तर्गत

1- हिन्दी नवरत्न : मिश्रबन्धुओं, पृ0- 32

2- मिश्रबन्धु- विनोद : (भूमिका), मिश्रबन्धु, पृ0- 38- 55

कपटी मुनि से, कार्नीलिया के पितृ- प्रेम श्रीराम के पितृ- प्रेम से एवं गानरिल और रीगन की चालाकी की और कैकेयी की कुटिलता से तुलना हुई है। इस प्रकार के अनेक कई समानान्तर प्रसंगों का उल्लेख दोनों कवियों की से कर दिया गया है[1]। तुलसी द्वारा वर्णित प्रसंगों को अधिक सुन्दर कह दिया गया है, पर कारणों का निर्देश नहीं है। विसर्ग, मानवीय प्रकृति, भाव, रस आदि की दृष्टि से तुलसी और शेक्सपीयर की जो तुलनात्मक आलोचना कुछ पंक्तियों में हुई है, वह पर्याप्त गम्भीर है। इस प्रसंग में तुलनात्मक आलोचना के समीचीन स्वरूप के कुछ दर्शन होते हैं[2]। शेक्सपीयर पर भी रसादि की दृष्टि से विचार हुआ है। पर मिश्रबन्धुओं में इस व्यापक दृष्टि का अभाव है। यह स्वाभाविक भी है। क्योंकि वह परवर्ती युग की चेतना है। आलोचक यह भी भूल जाते हैं कि ये दोनों कलाकार दो भिन्न संस्कृतियों की देन हैं, इसलिए एक ही शासन की दृष्टि से इनमें ऊंचे- नीचे का निरूपण करना अनधिकार और अनुपयुक्त चेष्टा मात्र है। ऐसे कवियों की तुलना तो उनकी विशेषताओं का निर्देश करके उनके अन्तर को स्पष्ट कर देने- भर में है। मिश्रबन्धुओं द्वारा दी गई अन्य बहुत- सी तुलनाओं से यह अधिक गम्भीर, प्रौढ़ और तर्क- सम्मत कही जा सकती है। इनके आलोचनात्मक महत्व को कोई भी अस्वीकार नहीं कर सकता है। `केशव` और `मिल्टन` की तथा `मिल्टन` को `लैटिन` अधिक प्रिय थी और केशव को संस्कृत, केवल इतनी - सी बात को तुलना का आधार मानना ठीक नहीं[3]। स्काट और

१- मिश्रबन्धु- विनोद : मिश्रबन्धु, पृ०- ११४

२- ३ वही, पृ०- क्रमश: ११७, १४०

पद्माकर एक ही समय में मरे थे, दोनों की भाषा उड़ती हुई है, इसलिए इनकी परस्पर तुलना हुई है।

मिश्रबन्धुओं ने श्रेणी-विभाजन का आधार काव्योत्कर्ष माना है। द्विवेदी जी ने छन्दों के अर्थ तथा प्रभाववादी आलोचना के द्वारा उनके सौन्दर्य की अनुभूति पाठक में जागृत की है। इसलिए वह विवेचन पूर्णत: शास्त्रीय नहीं कहा जा सकता है। परन्तु मिश्रबन्धुओं की यह आलोचना विशुद्ध शास्त्रीय समीक्षा का प्रौढ़तर उदाहरण मानी जा सकती है। इसमें छन्द, रस, अलंकार, नायक-नायिका, संचारी, हाव, भाव, अनुभाव, दोष आदि सभी दृष्टियों से समीक्षा हुई है। यह इस पद्धति की सर्वांगीण आलोचना है। छन्द, भाव, अलंकार सम्बन्धी अत्यन्त सूक्ष्म गुण-दोषों और विशेषताओं पर लेखक का ध्यान गया है। इनका निरूपण भी अत्यन्त तर्क-सम्मत है[१]। ये मिश्रबन्धुओं द्वारा मान्य श्रेष्ठ काव्य के उदाहरण हैं। इन आलोचकों ने इन छन्दों के उत्तम काव्यत्व के कारणों पर प्रकाश डाला है। ये छन्द समान नहीं, अपितु भिन्न कारणों से उत्तम कहे गये हैं। इस प्रकार की सर्वांगीण आलोचना-पद्धति का अनुसरण इन आलोचकों ने अपने दोनों आलोच्य ग्रन्थों में सर्वत्र नहीं किया है। केवल बिहारी, देव और तुलसी के कतिपय छन्दों की आलोचना इस पद्धति पर हुई है। सर्वत्र इसका अनुसरण सम्भव नहीं था। काव्यांग निरूपण की यह पद्धति फुटकर छन्दों की समीक्षा के ही अधिक उपयुक्त है। इन्हीं तत्वों के आधार पर कवियों के समष्टिगत काव्य-सौष्ठव का निर्देश भी होता है। इस पद्धति का विकास परवर्ती काल

१- मिश्रबन्धु विनोद : पृ०- १४०

में हुआ है। शुक्ल जी तथा अन्य परवर्ती आलोचकों ने अलंकारादि के सम्बन्ध में कवियों की सामान्य प्रवृत्तियों का विवेचन किया है। मिश्रबन्धुओं ने भी अपने `हिन्दी नवरत्न` के कवियों के काव्य सौष्ठव का विवेचन फुटकर छन्दों में काव्यांग- निर्देश करके ही नहीं किया है; अपितु इस सम्बन्ध में उनकी सामान्य प्रवृत्ति की ओर भी उनका ध्यान गया है। पर कवियों के काव्य-सौष्ठव का गम्भीर, प्रौढ़ और तर्कपूर्ण विवेचन नहीं है। केवल साधारण निर्देश- मात्र है,जिसमें शास्त्रीय प्रामाणिकता की अपेक्षा वैयक्तिक रुचि की प्रधानता है। काव्यांगों की दृष्टि से बिहारी, देव, मतिराम आदि रीतिकालीन कवियों की बहुत आलोचना हो सकती थी। रीतिकालीन कवियों के लिए यह शास्त्रीय मानदण्ड ही सबसे उपयुक्त है। मिश्रबन्धुओं ने प्रबन्ध शैली के संस्कृत कवियों की अलंकारिक शैली और तुलसीदास जी की मुख्य कथा कहने की सर्वांगीण शैली ये दो प्रधान भेद माने हैं। इनमें से दूसरी शैली उन्हें अधिक सुन्दर लगती है[1]। तुलसीदास ने प्रबन्ध- रचना में विभिन्न छन्दों का प्रयोग नहीं किया है। इसलिए उनको यह शैली अरुचिकर प्रतीत होती है। केशव ने विभिन्न छन्दों के उपयोग से शैली को अधिक हृदयस्पर्शी बना दिया है[2]। इस प्रकार के ये दोनों निर्णय केवल व्यक्तिगत रुचि के ही परिचायक हैं। इसमें काव्य की आत्मा `रस` की भी स्पष्ट अवहेलना है। छन्दों की विभिन्नता के कारण पाठक का जी ऊबता नहीं, इस स्थूल और जड़ नियम को मानकर यह आलोचना हुई है। पद- पद पर छन्दों के बदलने से भी जी ऊब जाता है। उससे न काव्य में प्रवाह आ पाता है और न पाठक को रसधारा में अवगाहन करने का ही अवसर मिलता है। एक वस्तु के

१-२ हिन्दी नवरत्न : मिश्रबन्धुओं; पृ०- ४०२- ४०३, ४०२ क्रमश:

रसास्वादन के पूर्व ही दूसरी सामने आ जाती है, इस प्रकार एक का भी पूर्ण आनन्द नहीं आता। छन्द परिवर्तन से हमेशा सौन्दर्य की अभिवृद्धि जैसी विचारधारा में तर्क की प्रौढ़ता का अभाव सा दिखाई देता है।

संस्कृत और हिन्दी के रीति-ग्रन्थ हिन्दी जनता से कुछ दूर होते जाते हैं। भानु कवि ने आधुनिक काल में उसका पुनरुद्धार भी किया था। मिश्रबन्धुओं ने भी भाव, रस, गुण, दोष, अलंकार, पिंगल, गणागण, शब्दशक्ति आदि काव्य-तत्वों का बहुत संक्षिप्त-सा परिचय मिश्रबन्धु-विनोद की भूमिका में दिया है। वह विवेचन केवल नाम गणना कोटि का ही है। स्थानाभाव से वे इसका सूक्ष्म निरूपण नहीं कर सके हैं[१]। उनके विवेचन से स्पष्ट है कि वे रस को ही काव्य की आत्मा मानने के पक्ष में हैं[२]। बिहारी, के दोहे की आलोचना में उन्होंने `दोहे` की उत्तमता का आधार `व्यंग्य` ही माना है[३]। इसके पहले `देव` के छन्द की आलोचना में वाचक की प्रधानता के कारण उसे उत्तम काव्य कह दिया है[४]। इस प्रकार उनकी आलोचना की कोई निश्चित धारणा नहीं प्रतीत होती है, विभिन्न स्थलों पर उन्होंने विभिन्न तत्वों को जीव कहना उचित समझा है। काव्यांग निरूपण में उन्होंने आचार्यों के विभिन्न मतों का सहारा लिया है। वहां पर भी केवल उनकी व्यक्तिगत रुचि ही है, स्पष्ट मत नहीं।

१- मिश्रबन्धु विनोद : मिश्रबन्धुओं, पृ०- ५६- ६५

२- वही, पृ०- ६५

३- वही, पृ०- ४७

४- वही, पृ०- १९३- २००

` मिश्रबन्धु- विनोद ` में काव्य की विभिन्न परिभाषाओं पर संक्षेप में विचार हुआ है। इसमें ` मम्मट `, ` पण्डितराज, ` ` विश्वनाथ, ` कुलपति, ` ` रत्नाकर, ` ` अम्बिकादत्त, ` ` देव ` आदि कतिपय आचार्यों के मतों का निरूपण हुआ है।

ऐसा प्रतीत होता है कि मिश्र बन्धुओं ने गुण, अलंकार, रस आदि के विवेचन में रीति ग्रन्थ का ही आश्रय अधिक लिया है। और उन्हीं के समानान्तर संस्कृत मतों के उदरण भी कहीं- कहीं दिये हैं। काव्यांगों की परिभाषा में उन्होंने रीतिकालीन आचार्यों के मत ही अधिक उद्धृत किये हैं। ` साहित्य- पारिजात ` में अलंकारों के उदाहरण तथा कहीं- कहीं काव्यांगों के लक्षण भी रीतिकालीन आचार्यों से लिये गये हैं। यह ग्रन्थ पण्डित शुकदेव बिहारी मिश्र तथा ` प्रतापनारायण मिश्र ` का लिखा हुआ है। मिश्रबन्धुओं ने गद्य- पद्य दोनों को ही काव्य माना है। ` मिश्रबन्धुओं ` के समय तक हिन्दी साहित्य का कलाकार और आलोचक चिन्तन की इस प्रौढ़ता को नहीं प्राप्त कर पाया था कि उसका ध्यान सामंजस्य की ओर जाता। उस समय तो वह प्रायः अन्धकार में ही अपना मार्ग खोज रहा था। अनेक मार्गों को अपनाकर कहीं पहुंच जाने की प्रवृत्ति थी। कहां पहुंच जाना है, यह भी वह निश्चय नहीं कर पाया था। यही कारण है कि मिश्रबन्धु इस सामंजस्य का बहुत ही अस्पष्ट निर्देश कर पाये हैं। यह विचारधारा उनके समय तक शैशव में ही थी।

१- मिश्रबन्धु विनोद : मिश्रबन्धु, पृ०- १९३- २००

'हिन्दी नवरत्न' और 'मिश्रबन्धु-विनोद' में आलोचना पद्धति के आधुनिक स्वरूप के भी स्पष्ट दर्शन होते हैं। सन्देश और उसकी सफल अभिव्यक्ति को तो इन लेखकों ने आलोचना का प्रधान आधार माना है[1]। इसलिए उन्होंने 'हिन्दी-नवरत्न' में समाविष्ट प्राय: सभी कवियों के सन्देश का निर्देश किया है[2]। सूर, तुलसी, कबीर और भूषण के सन्देश का अच्छा निरूपण है। भूषण की कविता में लेखक ने जातीयता और राष्ट्रीयता के दर्शन किये हैं[3]। हिन्दी नवरत्न और मिश्रबन्धु विनोद में बहुत से कवियों के जीवन सम्बन्धी अथवा दार्शनिक विचारों का सूक्ष्म निर्देश है। पर इस पद्धति की आलोचना का अवसर इन लेखकों को कबीर पर लिखते समय अधिक मिला है। कबीर में मिश्रबन्धुओं के शब्दों में अभिव्यक्ति की कलात्मकता की अपेक्षा सन्देश की गम्भीरता और प्रौढ़ता ही अधिक महत्वपूर्ण है इसलिए आलोचक का ध्यान उस ओर अधिक आकृष्ट होना स्वाभाविक ही है। कवि के सन्देश और जीवन-सम्बन्धी विचारों की आलोचना करने की प्रवृत्ति इन लेखकों में सर्वत्र ही पाई जाती है, पर अन्य कवियों की अपेक्षा इस कवि की आलोचना में इसको अधिक स्थान मिला है और यह विवेचन प्रौढ़ भी है। मिश्रबन्धु तो सन्देश खोजने के लाभ का संवरण नहीं कर सके हैं। देव और बिहारी के सन्देश को गौण कहते हुए भी आचार्यत्व और भाषा का सन्देश मानने की प्रवृत्ति है ही। ऐसी एक-आध अत्युक्ति के अतिरिक्त इनका यह विवेचन सम्पूर्ण और प्रौढ़ कहा जा

१- हिन्दी नवरत्न : मिश्रबन्धु, पृ०- २३-२४

२- वही, पृ०- २३-२६

३- वही, पृ०- २५ (भूमिका भाग से उद्धृत) ।

सकता है। लेकिन राधाकृष्ण का नाम आ जाने से रीतिकालीन कवियों में भक्ति का सन्देश मानने के लिए तैयार नहीं। केशव में भक्ति का सन्देश का भी उन्होंने विरोध किया है। कवियों के जीवन सन्देश एवं जीवन-मूल्यों पर विचार करने वाली समीक्षा- पद्धति का परवर्ती काल में विकास हुआ है। पर हिन्दी में इस पद्धति के अच्छे प्रौढ़ उदाहरण तो आज भी विरल ही हैं।

द्विवेदी जी की भाषा सम्बन्धी आलोचना की विशेषता अशुद्धियों का निर्देश करने में थी। कहीं-कहीं और आदि गुणों का संकेत भी कर दिया जाता था। पर वस्तुतः व्याकरण- सम्बन्धी अशुद्धियों का निर्देश करना आलोचना का बहुत ही गौण कार्य है। द्विवेदी जी की भाषा के स्वच्छन्द विकास के विरोधी नहीं थे, पर उन्हें व्याकरण के नियंत्रण का अभाव असह्य नहीं था। मिश्रबन्धु भी भाषा की अव्यवस्था के पक्षपाती नहीं हैं। वे भाषा में 'मनमानी' और 'घरजानी' नहीं देखना चाहते इससे तो वे साहित्य का विकास ही सम्भव नहीं मानते। मिश्रबन्धु हिन्दी को विद्वत्भाषा बनाने के पक्ष में नहीं थे। वे हिन्दी लेखकों की स्वतन्त्रता के पक्षपाती थे। उन्होंने स्वयं 'नायिका के स्थान पर 'नायक' का प्रयोग किया है। बाद में नायिका प्रयोग भी करने लगे थे। 'नायिका' के स्थान पर नायक का प्रयोग कोई बहुत सुन्दर और हिन्दी की प्रकृति के अनुकूल नहीं है, पर केवल संस्कृत के हिन्दी की स्वतन्त्र सत्ता की घोषणा भर कर देने में इसका महत्व है। मिश्रबन्धुओं का यह कहना अत्यन्त तर्कसम्मत है कि अगर हिन्दी पर संस्कृत व्याकरण का नियन्त्रण रखने की चेष्टा की जायेगी तो यह हिन्दी न रहकर संस्कृत ही जायगी फिर 'गच्छति' और करोति की देर रहेगी। 'प्रियप्रवास' में कई स्थानों पर यह रूप ग्रहण कर लिया है।

मिश्रबन्धु अधूरी भाषा लिखने के पक्षपाती नहीं हैं। सभा को भी 'प्रचारक' ही कहना चाहते हैं, 'प्रचारिणी' नहीं। हिन्दी भाषा की स्वतन्त्रता और स्वच्छन्दता का यह दृष्टिकोण बहुत ही समीचीन है[1]। भाषा और साहित्य के पारस्परिक सम्बन्ध का यह दृष्टिकोण द्विवेदी जी के दृष्टिकोण की अपेक्षा अधिक प्रगतिशील कहा जा सकता है। द्विवेदी जी की तरह मिश्रबन्धु कवियों की भाषा में व्याकरण सम्बन्धी अशुद्धियों को ढूंढ निकालने के फेर में नहीं पड़े हैं। मिश्रबन्धु ने भाषा-सौष्ठव और उसकी भाव-वर्ण्य-विषय आदि से अनुपता पर ही विचार किया है। बिहारी की भाषा में लेखक ने प्रांतीय और इतर भाषाओं के प्रयोगों के बहुत उदाहरण दिये हैं। उन्होंने बहुत से शब्दों को तोड़ने-मरोड़ने की प्रवृत्ति की ओर भी पाठकों का ध्यान आकृष्ट किया है। बिहारी ने 'चिलक' शब्द का प्रयोग 'चमक' के अर्थ में किया है। पर यह शब्द कई एक स्थानों पर दर्द के अर्थ में प्रयुक्त होता है। मिश्रबन्धु ऐसे प्रयोग अनुचित और अशिष्ट मानते हैं। स्वयं 'मिश्रबन्धु' भी कई जगह वाद-विवाद में पड़े हैं। बिहारी की भाषा सम्बन्धी आलोचना वाला भी एक ऐसा ही स्थल है। मिश्रबन्धुओं का ध्यान कवि के गुणों पर भी किया गया है। उन्होंने बिहारी के भाषा सम्बन्धी व्यापक ज्ञान की प्रशंसा की है। चमक और पद-मैत्री के कारण भाषा में जो सौन्दर्य आ गया है, उसकी उपेक्षा मिश्रबन्धुओं ने नहीं की[2]। बिहारी की भाषा की सजीवता पर भी आलोचक का थोड़ा ध्यान गया है 'जगमगात', 'फलफलात' आदि

१- मिश्रबन्धु-विनोद : पृ०- ६६-७५, हिन्दी नवरत्न : पृ०- २१-२३ (मिश्रबन्धुओं)

२- हिन्दी नवरत्न : पृ०- ३४८

शब्दों में सजीवता के दर्शन आलोचकों को भी हुए हैं[1]। बिहारी के शब्द और अर्थ का चमत्कार, अर्थ गाम्भीर्य, व्यंग्य एक ही दोहे में सारी रस सामग्री को एकत्र कर देने की क्षमता के कारण भाषा की प्रौढ़ता, एक साथ कई एक अलंकारों का प्रयोग आदि बहुत-सी प्रमुख विशेषताओं की ओर इन आलोचकों का ध्यान नहीं जा सका। यह केवल वैयक्तिक रुचि का ही परिचायक है। इनकी दृष्टि बिहारी के काव्य-सौष्ठव को परख में कुण्ठित हो गई। भाषा के गुणों और अलंकारों का निर्देश प्राय: सभी कवियों की आलोचना में हुआ है।

मिश्रबन्धुओं की आलोचना में कवियों की विशेषताओं और गुण-दोष निरूपण में विश्लेषणात्मक पद्धति का अवलम्बन तो अवश्य हुआ है, पर फिर भी इनके ग्रन्थों का प्रमुख विशेषता परिचय ही है[2]। हिन्दी नवरत्न में तुलसी, सूर, देव आदि सभी कवियों के ग्रन्थों का आलोचनात्मक परिचय दिया गया है। आलोचकों का मुख्य उद्देश्य तो कवियों की विशेषताओं का सामान्य परिचय तथा उनको किसी विशेष श्रेणी में रखना है। यही कारण है कि इनकी आलोचना की गूढ़ और विश्लेषणात्मक उक्तियों में सर्वत्र संश्लिष्टता नहीं पायी जाती। बीच-बीच में प्रौढ़ विचारधारा के दर्शन हो जाते हैं। इनकी आलोचना की दूसरी प्रधान विशेषता निर्णयात्मकता है। हिन्दी नवरत्न का निर्माण तो श्रेणी-विभाजन के आदर्श को अपने सम्मुख रखकर हुआ है। इस ग्रन्थ में तुलसी, सूर और देव को परस्पर एक-दूसरे से ऊँचा बताने की प्रवृत्ति भी छिपी नहीं रहती। इस सम्बन्ध में मिश्रबन्धुओं ने अपना मत कई

१- हिन्दी नवरत्न : पृ० - ३५२

२- वही, पृ० - २६४

बार बदला है। 'मिश्रबन्धुविनोद' इतिहास ग्रन्थ है। उसमें इस प्रकार के श्रेणी-विभाग के लिए न कोई स्थान था और न आवश्यकता ही। पर फिर भी लेखकों ने कवियों पर विचार प्रकट करने में इस शैली का अनुसरण किया है। श्रेणी-विभाग के लिए जो तुलनात्मक अध्ययन कवियों का हुआ है उसमें विश्लेषण, तर्क और प्रौढ़ विवेचन का अभाव है। लेखकों ने तुलसी, देव, बिहारी आदि के कुछ छन्दों की शास्त्रीय आलोचना की है, उसमें गम्भीरता भी है इसमें कोई सन्देह नहीं। जिस शास्त्रीय पद्धति और शैली का अवलम्बन मिश्रबन्धुओं ने किया है, वह स्फुट छन्दों की आलोचना के उपयुक्त मानदण्ड है। मिश्रबन्धु इसके तुलनात्मक रूप का निर्वाह नहीं कर सके हैं। मिश्रबन्धु देव के शब्द-चमत्कार और 'उक्ति वैचित्र्य' के चकाचौंध से तुलसी, सूर, कबीर आदि के साहित्यिक महत्व का निर्णय नहीं कर सके। वाह्याडम्बर की सज-धज और तड़क-भड़क से मुग्ध होकर वे काव्य वास्तविक आत्मा की परख ही खो बैठे। सूर और तुलसी के काव्य में जीवन के चिरन्तन स्वरूप को देखने और उसके मूल्य परखने की क्षमता इन लेखकों में नहीं रह गई। बाद में उन्होंने इन दोनों कवियों में जीवन का स्थायित्व देखा तो सही, पर वह तो साधारण और अस्पष्ट झलक-मात्र थी। उसमें देव के प्रति उत्पन्न मोह को भंग करने की प्रखरता का अभाव था। यही कारण है कि इस निर्णय का प्रभाव उनकी आलोचना पर कुछ भी नहीं हुआ। इस सारे विभाजन के पीछे केवल व्यक्तिगत रुचि ही कार्य कर रही है, पुष्ट आधार का नितान्त अभाव है। व्यक्तिगत कारणों से मिश्रबन्धुओं को देव की कविता अत्यन्त प्रिय है, किसी दूसरे को मतिराम की हो सकती है, पर आलोचना के क्षेत्र में ऐसी वैयक्तिक रुचि का कोई विशेष महत्व नहीं है। देव और तुलसी की तुलना

द्वारा भी किसी विशेष प्रगति की सम्भावना नहीं थी। यदि शास्त्रीय आधार लेकर कुछ प्रौढ़ विवेचन किया जाता तो दोनों कवियों की विशेषतावों और महत्व को समझने के लिए एक सुन्दर प्रयास के रूप में साहित्य- क्षेत्र में इनका पर्याप्त सम्मान होता। मिश्रबन्धुवों की आलोचना का जितना आज सम्मान है उससे कहीं अधिक हो सकता था। मिश्रबन्धुवों ने कई स्थानों पर तो वैयक्तिक रुचि और तुलना के आवेश में आकर असहृदयता का भी परिचय दे दिया है। तुलसीदास द्वारा बारम्बार राम के ईश्वरत्व का स्मरण कराते रहने में राम के अलौकिक और सर्वशक्तिमान रूप का चित्रण हुवा है। भक्ति की यह महत्ता मिश्रबन्धुवों के ध्यान में नहीं आ सकी। राधा और गोपियों के मुख से सूर ने सुन्दर उपालम्भ दिलाकर जिस भक्ति और शृंगार का रस प्रवाहित किया है, उसे मिश्रबन्धु कृष्ण के कार्यों की निन्दा मानते हैं। सूरदास की भाषा को क्लिष्ट बताना भी ऐसी विचित्र वैयक्तिक रुचि का ही उदाहरण है। दूसरे स्वयं मिश्रबन्धु सूर की भाषा को मधुर और ललित कह चुके हैं। " सूरदास की भाषा शुद्ध ब्रजभाषा है....... परन्तु इनकी भाषा ऐसी ललित और श्रुति- मधुर है कि वैसी इनके पीछे वाले कवियों तक में बहुत कम पाई जाती है। --- उनमें माधुर्य और प्रसाद गुण प्रधान है। ओज की मात्रा इनकी कविता में बहुत कम है। कहीं यमक आदि के लिए इन्होंने अपना भाव नहीं बिगाड़ा। इनके पद ललित और अर्थ- गाम्भीरता से युक्त हैं[1]। "

प्रत्येक कवि की आलोचना दूसरे से स्वतन्त्र एक भिन्न मानदण्ड के आधार पर हुई है। कबीर, देव, बिहारी आदि की काव्यगत विशेषतावों

१- हिन्दी आलोचना का उद्भव और विकास : भगवतस्वरूप मिश्र, पृ०-२८८-२६०

का निरूपण एक ही दृष्टि से नहीं हुआ है। कबीर में दार्शनिक विवेचन ही अधिक है। देव और बिहारी के भाषा- भाव और अलंकार के सौष्ठव पर अधिक विचार हुआ है। द्विवेदी जी के समसामयिक आलोचकों में जो व्यक्तिगत राग- द्वेष का प्राधान्य हो गया था उससे आलोचक अपने प्रकृत मार्ग से पथभ्रष्ट हो गये थे। मिश्रबन्धुओं के इन ग्रन्थों ने आलोचकों को इन व्यक्तिगत राग- द्वेष और आक्षेपों से ऊपर उठाकर साहित्य की प्रगति पर गम्भीरतापूर्वक सोचने के लिये बाध्य कर दिया था। आलोचना को वास्तविक वैज्ञानिक रूप देने का श्रेय इन्हीं को है। यही कारण है कि प्रसिद्ध अंग्रेजी मासिक पत्रिका ` माडर्न रिव्यू ` ने ` हिन्दी नवरत्न ` को नवीन युग का प्रवर्तक कहा। इन ग्रन्थों की आलोचना वैयक्तिक, निर्णयात्मक, रूढ़िगत और अत्युक्तिपूर्ण प्रशंसात्मक ही मानी जायगी। कवि की विशेषताओं का कई दृष्टियों से निरूपण होने पर भी उसमें अपेक्षित विश्लेषणात्मक प्रौढ़ता का अभाव है। पर इतना अवश्य मानना पड़ता है कि इन ग्रन्थों के आकार और गम्भीरता ने तत्कालीन वाद- विवाद का सदा के लिए अन्त कर दिया। इससे आलोचना की प्रौढ़ पद्धति के विकास का मार्ग खुल गया। इस दृष्टि से यह आयोजन अर्वाचीन युग का प्रवर्तक है। ` हिन्दी नवरत्न ` और ` मिश्रबन्धु विनोद ` इस विकास के सोपान हैं। इनमें आलोचना के स्वरूप- विकास के लक्षण स्पष्ट दिखाई पड़ते हैं। तुलनात्मक आलोचना हिन्दी साहित्य के क्षेत्र में कतिपय वर्षों तक विद्वत्समाज के विवेचन का केन्द्र- बिन्दु रही है। इसका सूत्रपात तो मिश्रबन्धुओं से ही हो गया था। द्विवेदी जी में इसकी कहीं- कहीं अस्पष्ट झलक- मात्र मिलती है। पर यह मिश्रबन्धुओं की आलोचना की प्रधान विशेषताओं में से है। तुलना और निर्णय तो इनकी आलोचना की प्रधान

विशेषताएं हैं, पर इन्होंने साहित्यकारों के व्यक्तित्व, दर्शन, विचार तथा उनकी तत्कालीन परिस्थितियों पर भी विचार किया है। तुलसी और कबीर के व्यक्तित्व तथा सन्देश के सम्बन्ध में विचार करते हुए मिश्रबन्धुओं ने अच्छे प्रौढ़ आलोचनात्मक दृष्टिकोण का परिचय दिया है। इसमें सामान्य स्तर के मनोवैज्ञानिक और ऐतिहासिक समीक्षा के तत्व भी अन्तर्हित हैं।

—

(ग) टीका और सम्पादन के सन्दर्भ में रीतिकाव्य का मूल्यांकन

द्विवेदी युग की आलोचना की यह तीसरी प्रक्रिया है। वस्तुत: इस काल में टीका और सम्पादन के सन्दर्भ में रीतिकाल का मूल्यांकन किया गया। इस युग में टीकायें बहुत हुईं जिनमें सबसे अधिक टीका है बिहारीलाल जी पर लिखी गई। और साथ में सम्पादन कार्य भी हुए जिनमें मुख्य रूप से (१) नवलकिशोर प्रेस लखनऊ से छपी हुई कृष्ण कवि की कवित्तों वाली टीका, (२) भारत जीवन प्रेस की छपी हुई हरिप्रकाश टीका, (३) लल्लू लाल जी कृत तथा उन्हीं की छपाई हुई लालचन्द्रिका टीका, (४) विद्योदय प्रेस की छपी हुई पं० परमानन्द जी कृत शृंगार-सप्तशती नाम की संस्कृत टीका, (५) सरदार कवि की टीका (हस्तलिखित) है, पद्मसिंह शर्मा कृत संजीवनी भाष्य, लाला भगवानदीन की बिहारी बोधिनी, रत्नाकर कृत बिहारी रत्नाकर जैसी महत्वपूर्ण टीकाएं लिखी गईं।

इस युग की महत्वपूर्ण टीकाओं में बिहारी रत्नाकर की गणना की जाती है। रत्नाकर जी ने ऐसी महत्वपूर्ण टीका का सम्पादन कर बड़ा ही नेक कार्य किया इसके पश्चात् ही रत्नाकर जी ने कविवर बिहारी नाम की दूसरी पुस्तक के अन्तर्गत बिहारी विषय पर अपने लेखों को सम्पादित किया। उदाहरण स्वरूप रत्नाकर जी की `बिहारी रत्नाकर` पुस्तक को ही आधार बना रहे हैं। रत्नाकर जी ने उपर्युक्त पांच टीकाओं को अपने समक्ष रखकर बिहारी रत्नाकर की टीका का सम्पादन किया। कारण उस समय यही मुख्य रूप में टीकायें थीं और रत्नाकर जी को यही टीकाएं प्राप्त भी हुईं जब कि पांचों टीकाओं के दोहों के क्रम संख्या, पाठों में भेद, अर्थों में कुछ अन्तर

थे परन्तु रत्नाकर जी ने उन क्रमों और अर्थों को ठीक प्रकार से लिखकर बिहारी रत्नाकर का सम्पादन किया। हमारे अनुमान से बिहारी-बोधिनी के पश्चात् बिहारी-सतसई पर यही सबसे प्रामाणिक पहली टीका है। इसमें ५-७ दोहों को छोड़कर शेष दोहों का पूर्वापर क्रम वही है, जो रत्नकुंवरि जी वाली पुस्तक में है[1]।

स्वर्गीय जगन्नाथदास रत्नाकर जी ने बिहारी सतसई की टीका लिखते समय कई दृष्टियों से इस ग्रन्थ के अध्ययन का प्रयत्न किया था। सत् बात तो ये है कि उन्होंने बिहारी सतसई को मथ डाला था।

रत्नाकर जी ब्रजभाषा के अन्तिम श्रेष्ठ कवि थे। रीतिकाल के शृंगारी कवियों के बारे में यह धारणा बना ली गई है कि ये लोग दरबारी कवि थे और इसीलिए उनकी विद्या-बुद्धि आश्रयदाताओं को प्रसन्न रखने तक ही सीमित थी। परन्तु यह धारणा सर्वथा सही नहीं है रीति काव्य के अच्छे कवियों का अध्ययन पर्याप्त रूप में गम्भीर और व्यापक हुआ करता था। तत्काल प्रचलित काव्यशास्त्रीय परम्परा से वे पूर्णरूप से परिचित थे। यद्यपि बहुत कम कवियों में स्वतन्त्र उद्भावना शक्ति का पता लगता है तथापि उनके पिंगल-अलंकार, रस आदि के गम्भीर अध्ययन की बात अस्वीकार नहीं की जा सकती। रत्नाकर जी इन्हीं श्रेष्ठ कवियों की परम्परा के अन्तिम रत्न थे। कविवर बिहारी नामक पुस्तक में रत्नाकर जी का प्राचीन काव्यशास्त्रीय ज्ञान ही नहीं प्रकट हुआ है, आधुनिक पद्धतियों पर अधिकार भी स्पष्ट हुआ है।

बिहारी अपने काल के असाधारण कवि थे। उन्होंने अपने पूर्ववर्ती

१- बिहारी रत्नाकर : स्वर्गीय जगन्नाथदास रत्नाकर; पृ०-६

मुक्तक काव्य का गम्भीर अध्ययन किया। रत्नाकर जी ने 'बिहारी सतसई' की टीकाओं का बहुत विस्तृत और क्रमबद्ध परिचय दिया है। इन टीकाओं से बिहारी की लोकप्रियता का पता चलता है। नि:सन्देह बिहारी रीतिकाल के सर्वाधिक लोकप्रिय कवि थे। आधुनिक काल में भी जबकि रीति परम्परा अन्तिम सांस ले रही थी, बिहारी के दोहे सहृदय साहित्यिकों के आकर्षण के केन्द्र बने रहे।

वस्तुत: ही बिहारी के दोहों में इतना सुन्दर वाग्वैदग्ध्य है कि सहृदय आलोचक उस पर मुग्ध हुए बिना नहीं रह सकता। बिहारी सचेत कलाकार थे जो शब्द और उनके अर्थों पर विचार करते रहने वाले और प्रयुक्त शब्द वाह्यजगत में जिस रूप को अभिव्यक्त करते हैं, उसे मन ही मन समझते और बोलते रहने वाले कवियों की श्रेणी में पड़ते हैं। शृंगार रस की अभिव्यंजना के समय ऐसे कवि रसोद्दीपनपरक चेष्टाओं की पूर्ति मूर्ति ध्यान में रखते हैं। वे प्रिया की शोभा-दीप्ति और कान्ति के साथ-साथ माधुर्य-औदार्य आदि मानस गुणों को भी जब व्यक्त करना चाहते हैं, तो उन आंगिक और वाचिक चेष्टाओं का चित्र खींचते हैं जो तत्व मानसिक गुणों की व्यंजना करने में समर्थ होती है। वे अनेक प्रकार के हावों, हेलावों, कुट्टमित-मोट्टायित-बिम्बों को और अनुभावों की योजना का आयोजन करते हैं। बिहारी इस कला में अत्यन्त पटु हैं। रीतिभाव के कवियों में सौन्दर्य को मादक बनाकर उपभोग्य बनाने की प्रवृत्ति बलवती है। छन्द, अलंकार, लय और झंकार के सहारे ये कवि सहज सौन्दर्य को भी मादक बना देते हैं। बिहारी इस दशा में भी सबसे आगे हैं। बिहारी की सतसई में कुछ गिनती के दोहों को छोड़कर शेष सब दोहे शृंगार, भक्ति अथवा नीति के हैं।

बिहारी रत्नाकर के दोहों की संख्या तथा क्रम के निमित्त तृतीय अर्थात् बिहारी रत्नाकर की तीसरी प्राचीन प्रति में ७१३ दोहे मिलते हैं, और अन्त में टीकाकार ने स्पष्ट रूप से लिख भी दिया है कि सतसई में ७१३ दोहे हैं। रत्न कुंवरि वाली पुस्तक अर्थात् पांचवीं प्राचीन प्रति में भी ये ही ७१३ दोहे देखने में आते हैं। बिहारी के शिष्य वाली प्रति दूसरी प्राचीन प्रति में इन ७१३ दोहे में से ११७, ३०१, ६०४ और ७१३ अंकों के दोहे नहीं हैं। पर इनमें से ११७ तथा ३०१अंकों के दोहे तो अन्य प्राचीन प्रतियों में विद्यमान है और ६०४ अंक वाला दोहा तीसरा, चौथा तथा पांचवीं पुस्तकों में उपलब्ध है और पहली प्रति में केवल ४६३ अंक वाला दोहा। यह चौथे अंक की पुस्तक में भी नहीं है। पर कृष्णलाल की गद्य टीका वाली प्रति में यह ७१३ ही अंक पर पाया जाता है, ४६४ तथा ४६८ अंकों के दोहे बिहारी के प्रसिद्ध दोहे हैं, और प्राय: सतसई की सभी प्रतियों में प्राप्त होते हैं। अत: इनके इस प्रति में छूट जाने का कारण लेखक का प्रमाद मात्र मानना संगत है।

हम बिहारी रत्नाकर में प्रथम दोहा के टीका को ही उदाहरणस्वरूप दे रहे हैं।

मेरी भव बाधा हरौ, राधा नागरि सोइ।
जा तन की झांई परैं, स्यामु हरित दुति होइ[1]।।

टीकाकार का मंगलाचरण

कृपा-कौमुदी कौ करौ श्री व्रजचंद प्रकाश।
उमगै रतनाकर हियैं बानी-बिमल-बिलास।।

१- बिहारी रत्नाकर : जगन्नाथदास रत्नाकर, पृ०- ११, १२

(अवतरण) अपनी सतसई की निर्विघ्न समाप्ति की कामना से कवि, इस मंगलाचरण रूप में ही राधिका जी से सांसारिक बाधा दूर करने की प्रार्थना करता है। सतसई से यद्यपि और रसों के भी दोहे हैं, तथापि प्रधानता शृंगार ही रस की है। इसके अतिरिक्त शृंगार रस में सब रसों की अवस्थाएं संचारी होकर संचरित होती हैं जिसके कारण वह रसराज कहलाता है। अत: सतसई में शृंगार रस के मुख्य प्रवर्तक श्री राधाकृष्ण ही का मंगलाचरण कहना समीचीन है। श्री राधा तथा श्रीकृष्ण की शृंगार रस में प्रधानता श्री राधिका जी ही की है, और कवि जिस सम्प्रदाय का अनुयायी था उसमें श्री राधिका जी ही प्रधान मानी जाती हैं। अत: उसमें श्री राधिका जी ही से अपनी ` भव बाधा ` हरने की प्रार्थना की है।

(अर्थ) जिसके तन की झाईं पड़ने से श्याम हरित-द्युति हो जाता है ` राधा नागरि सोइ ` (हे वही राधा नागरी, अथवा वही राधा नागरी) मेरी भव बाधा हरो, तुम हरो, अथवा हरें)।

इस दोहे में ` राधा नागरि ` पद संबोधन भी माना जाता है, और प्रथम पुरुषवाची भी क्योंकि ` हरौ ` क्रिया का अन्वय, प्रार्थनात्मक वाक्य में मध्यम पुरुष से भी हो सकता है और प्रथम पुरुष से भी फिर दोनों ही पुरुषों में क्रिया करने की प्रणाली प्रशस्त है।

यह दोहा बिहारी की प्रतिभा का अत्युत्कृष्ट उदाहरण है। इसमें कवि ने झांईं, स्यामु तथा हरित दुति, शब्दों के तीन तीन अर्थ रखकर एक ही वाक्य से तीन भाव निकाले हैं जो तीनों ही इसके इष्टार्थ के साधक हैं।

परन्तु हम तीनों अर्थ यहां पर नहीं दे रहे हैं। बिहारी रत्नाकर में

तीनों अर्थ लिखे गये हैं तथा टीकायें भी लिखी गई हैं। तीनों अर्थों में `राधा नागरि` पद सम्बोधन माना गया है। उसे प्रथम पुरुष-वाची मानकर भी इस दोहे के यही तीनों अर्थ हो सकते हैं।

इनके पांचों प्राचीन पुस्तकों में से चार में `मेरी भव बाधा` यही पाठ है, और चौसरे की पुस्तक आदि में खण्डित कृष्ण कवि की टीका के अनुसार भी यही पाठ ठीक ठहरता है। कृष्ण कवि ने अपनी टीका में प्रत्येक दोहे की जाति का नाम तथा उसके गुरु और लघु अक्षरों की संख्या लिख दी है। इस दोहे को उन्होंने करम लिखा है जिसमें ३२ अक्षर अर्थात् १६ गुरु और १६ लघु होते हैं। यह संख्या `भव बाधा` ही पाठ मानने से चरितार्थ होती है, अथवा `भौ-बाधा हरहु` पाठ रखने से। पर `हरहु` पाठ किसी पुस्तक में नहीं मिलता। एक पुरानी लिखी हुई पुस्तक, जिसमें दोहों का क्रम पुरुषोत्तमदास जी के बांधे हुए क्रम के अनुसार है, हमको वृन्दावन में मिली है। उसमें `भौ बाधा` पाठ तो है, पर `हरहु` पाठ उसमें भी नहीं है। अत: यदि `भौ बाधा` पाठ शुद्ध माना जाय, तो यह दोहा करम जाति का नहीं रहता, जैसा कि कृष्ण कवि ने इसको लिखा है। कृष्ण कवि ने अपनी टीका संवत् १७८२ में समाप्त की थी। अत: यह बात स्पष्ट है कि उस समय, जबकि बिहारी को मरे बहुत दिन नहीं बीते थे, भव-बाधा ही पाठ प्रसिद्ध था। पर विचारने की बात यह है कि मंगलाचरण के दोहे के आदि में बिहारी ने`मेरी भव-बाधा` कैसे रक्खा होगा; क्योंकि आदि में तगण पड़ता है, जो कि अशुभ माना जाता है। आदि में शुभ गण मगण पड़ जाता, और छन्द में भी कोई त्रुटि न पड़ती। यह कहना तो असंगत ही होगा कि बिहारी गण विचार नहीं जानते थे,क्योंकि यह तो ऐसी सामान्य

बात है कि इसको थोड़ा पढ़े हुए लोग भी जानते हैं। इसके अतिरिक्त ` मम बाधा ` को ` भी - बाधा ` कर देने में कोई कठिनाई भी न थी। फिर बिहारी ने, मंगलाचरण के दोहे के आदि में ` मम - बाधा ` क्यों लिखा ? इसके दो कारण हो सकते हैं— पहला तो यह कि बिहारी के दोहे बहुधा, उनके मुख से सुनकर राजसभा के लेखक अथवा बिहारी के शिष्य लिख लिया करते थे, अतः सम्भव है कि यह पाठ लिखने वालों के प्रमाद से प्रचलित हो गया हो दूसरा यह कि बिहारी[1] ने इस दोहे को मंगलाचरण में रखने के अभिप्राय से बनाया हो, पर सतसई संकलित करते समय, इसको इस योग्य देखकर, मंगलाचरण में रख दिया हो, और इसके आदि के गण पर ध्यान न दिया हो। जो हो, हमारी समझ में ` मेरी भी - बाधा हरौ ` पाठ होता, तो अच्छा होता। पर प्राचीन पुस्तकों में ` मेरी - बाधा हरौ ` ही पाठ होने के कारण यही पाठ इस संस्करण में रखा गया है[2]।

हम केवल २-३ दोहे की टीकाओं को इस ग्रन्थ में रख रहे हैं। जबकि सभी दोहे अपने आप में अनमोल हैं फिर भी हम मात्र कुछ दोहों को प्रस्तुत करना चाहते हैं पहले का वर्णन तो हमने कर दिया है दूसरा इस प्रकार है।

चिरजीवी जोरी, जुरै क्यों न सनेह गंभीर।

को घटि, ए वृषभानुजा, वे हलधर के बीर ।। ६७७ ।।

इधर तो श्रीराधिका जी की मान करने की प्रकृति है और उधर श्री कृष्णचन्द्र को अपराध करने की कुबान नहीं छूटती। एक दिन श्री राधिका जी के मान करके न मानने पर श्रीकृष्णचन्द्र भी मान मानकर

१- बिहारी रत्नाकर : पृ०- ३

२- वही, पृ०- ४

अलग बैठ गए और राधिका जी इधर अलग भौंहें चढ़ाए बैठी रहीं। उन्हें हंसाने तथा समझाने के निमित्त कोई सखी किसी अन्य सखी से, उन दोनों को सुनाकर, बड़ी चातुरी से, यह त्र्यर्थात्मक श्लिष्ट वाक्य कहती है। उसके वाक्य का पहला अर्थ यह होता है—

(अर्थ-१) (यह) जोड़ी चिरजीवी हो। (यह) गहरे स्नेह से क्यों न जुड़े (क्योंकि इन दोनों में से) घट कर कौन है (अर्थात् दोनों ही बराबर श्रेष्ठ हैं) यह (तो) वृषभानुजा (ऐसे महापुरुष) की बेटी है,(और) वह हलधर (बलदेव जी) (ऐसे प्रभावशाली पुरुष) के भाई ।।

इस अर्थ से सखी दोनों की शिष्ट जनोचित प्रशंसा करती हुई कहती है कि ये दोनों ही परम श्रेष्ठ हैं। अत: ये यद्यपि क्षणमात्र के निमित्त परस्पर रुष्ट हो गए हैं, तो क्या हुआ— इनमें गम्भीर प्रेम शीघ्र ही जुड़ जायगा, जैसा कि उत्तम पुरुषों में होता है। इस कथन से वह दोनों को बढ़ावा देकर उनका मान तथा माष छुड़ाना चाहती है[1]।

(अवतरण-२) ऊपर लिखे हुए अर्थ से तो सखी ने प्रशंसा की, पर मुंहलगी तथा ढीठ तो होती ही है, अत: वह नीचे लिखे हुए दूसरे अर्थ से उन दोनों को तप्त तथा उग्र प्रकृति कहकर यह व्यंजित करती है कि ऐसे नित्य के मान तथा माष से गम्भीर स्नेह का जुड़ाना असम्भव है, अत: एक का इतना शीघ्र मान करना और दूसरे का अपराध करने की कुबान न छोड़ने और उस पर भी माष मानना अनुचित है—

(अर्थ २) — (इन दोनों की) जोड़ी चिरजीवी हो। (यह जोड़ी) गम्भीर (चिर स्थायी) स्नेह से क्यों न जुड़े अर्थात् चिरस्थायी स्नेह से कैसे

१- बिहारी रत्नाकर : पृ०- २७८

जुड़ सकती है); (क्योंकि इन दोनों में से) घट कर कौन है (दोनों ही तो एक से उग्र स्वभाव तथा असहनशील हैं), ये तो वृषभानु (वृष के सूर्य) की बेटी (अतः तद्गुण अर्थात् प्रचण्डता तथा प्रदीप्तता से सम्पन्न) है, (और) वे हलधर (अर्थात् शेषनाग के अवतार) के भाई (अतः उनकी उग्रता तथा असहनशीलता से युक्त) हैं।

(अवतरण-३)— ऊपर लिखे हुए दूसरे अर्थ से दोनों के क्रोध, कुबान तथा असहनशीलता के कारण प्रेम के टूटने की सम्भावना व्यंजित करती हुई सखी अब तीसरे अर्थ से परिहास करके उनको ऐसे स्वभाव के कारण पशु कहती हुई व्यंजित करती है कि न तो यह समझाने से अपने रोष की प्रकृति ही छोड़ती हैं, और न वह कहने सुनने, डाट-डपट से अपने अवगुण ही। फिर भला इनमें सज्जनों जैसा गम्भीर स्नेह कैसे जुड़े। इनमें पशुओं का-सा क्षणिक प्रेम भले ही हो, पर गम्भीर प्रेम का जुड़ना तो असम्भव ही है। इस अर्थ में भी सखी परिहासपूर्वक यह शिक्षा देती है कि दोनों को यदि प्रेम का चिरस्थायी रखना अभीष्ट है, तो अपनी दुष्प्रकृति छोड़ देनी चाहिए—

(अर्थ-३)—(इन दोनों की) जोड़ी चिरंजीवी हो। (यह जोड़ी) गम्भीर (चिरस्थायी) स्नेह से क्यों न जुड़े (अर्थात् चिरस्थायी स्नेह से कैसे जुड़ सकती है), (क्योंकि इन दोनों में से) घट कर कौन है (दोनों ही तो एक ही से पशुवृत्ति हठी हैं, अर्थात् समझाने-बुझाने से नहीं मानते)। यह तो वृषभानुजा (वृषभ अर्थात् बैल की अनुजा अर्थात् बहिन) हैं, (और वह) हलधर (बैल) के भाई (अर्थात् दोनों गाय बैल हैं)[1]।

१- बिहारी रत्नाकर : पृ०- २७६

बिहारी रत्नाकर में जगन्नाथदास रत्नाकर जी ने इस टीका में विशेषत: इस बात का ध्यान रक्खा गया है कि पाठकों की समझ में शब्दार्थ तथा भावार्थ भली भांति आ जाये। दोहे के शब्दों के पारस्परिक व्याकरणिक सम्बन्ध तथा कारण इत्यादि के, स्पष्ट रूप से, प्रकट करने का भी यथासम्भव प्रयत्न किया गया है। प्रत्येक दोहे के पश्चात् उसके कठिन शब्दों के अर्थ दे दिए गए हैं और फिर उस दोहे के कहे जाने का अवसर [illegible] वक्ता, बोध इत्यादि, 'अवतरण' शीर्षक के अन्तर्गत, बतलाए गये हैं। उसके पश्चात् अर्थ शीर्षक के अन्तर्गत दोहे का अर्थ लिखा गया है। अर्थ लिखने में कोई शब्द अथवा वाक्यांश कठिन ज्ञात हुआ, उसका अर्थ, उसके पश्चात् गोल कोष्ठक में दे दिया गया है[१]।

इस टीका में अधिकांश दोहों के अर्थ अन्यान्य टीकाओं से भिन्न है। उनके यथार्थ होने की विवेचना पाठकों की समझ, रुचि तथा न्याय पर निर्भर है[२]।

इस प्रकार अनेक टीकाएं और सम्पादन हुए। संजीवनी भाष्य नामक टीका तथा बिहारी बोधिनी टीका भी काफ़ी महत्वपूर्ण थी। संजीवनी भाष्य नामक टीका एक बहुत वृहत टीका होने की आशा दे रही है इसके प्रथम भाग में जो ३६६ पृष्ठों का है, तुलनात्मक समालोचन के द्वारा तथा बिहारी के पाण्डित्य और प्रतिभा इत्यादि का प्रशंसा न करके केवल सतसई का सौष्ठव स्थापित किया गया है। बिहारी पर जो कतिपय दोषारोपण लोगों ने किये हैं उनके परिहार की चेष्टा की गई है। इसी में २४५ से ३६६ पृष्ठ तक तो जो समालोचना विद्यावारिधि पण्डित ज्वालाप्रसाद जी मिश्रजी की

१-२ बिहारी रत्नाकर : पृ० - २७९ एवं पृ० - १६ क्रमश:

भावार्थ प्रकाशित टीका पर क्रमश: सरस्वती में प्रकाशित हुई थी, उसका संग्रह है। दूसरे भाग से दोहों की टीका आरम्भ की गई है। उस भाग का कभी केवल प्रथम खण्ड प्रकाशित हुआ है उसमें २८४ पृष्ठ हैं, और उनमें केवल १२६ दोहों की टीका समाई है। शर्मा जी ने बड़ी योग्यता- अनुसंधान तथा दृढ़ता से बिहारी के दोहों को परम उत्कृष्ट काव्य सिद्ध किया है, और बिहारी के भी भाषा प्रतिभा तथा रचना प्रणाली इत्यादि सब ही की अद्वितीय उत्तमता दिखाई है। भाषा तो शर्मा जी की ऐसी अजीब तथा फड़कती हुई है कि उसका अनुकरण करना यदि असम्भव नहीं तो दुष्कर अवश्य है।

शर्मा जी की टीका के पश्चात् श्रीयुत लाला भगवानदीन जी (दीन) की बिहारी बोधिनी टीका रखते हैं। यह टीका संवत् १९७२ में निर्मित हुई है। ये महाशय जी ब्रजभाषा तथा खड़ीबोली दोनों के कवि और सुलेखक हैं यह टीका खड़ीबोली में है। इसमें प्रति दोहे के नीचे पहले कठिन शब्दों के अर्थ फिर वक्ता, बोधव्य आदि बतलाकर भावार्थ लिखा गया है। प्राय: दोहों में जो कुछ विशेष बातें लाला जी को दिखलानी अभीष्ट थी वे विशेष शीर्षक के अन्तर्गत लिखी गई है। लाला जी ने दोहों का अर्थ अपने मतानुसार बहुत स्पष्ट तथा सरल भाषा में प्रकाशित किया है। किसी- किसी दोहे के अर्थ में उन्होंने उपने पूर्व के टीकाकारों से भिन्नता भी की है और कोई- कोई बात सर्वथा नई भी लिखी है। अन्त में लाला जी ने दोहों के अलंकार भी बतलाए हैं। निदर्शनार्थ दोहे की टीका यहां लिखी जाती है।

पाच्यौ सोरु सुहाग कौ अनु बिनु हो पिय नेह।
उन दौही अँखियां ककै के अल सौं ही देह ।।

टीका- शब्दार्थ- सोर = ख्याति। उन दौ ही = उनींदी सी। ककै = करके।

भावार्थ— इसने (तुम्हारी सवति ने) बिना नायक के नेक के ही उनींदी आँखें और आलस्ययुत देह बनाकर अपने सुहाग की ख्याति फैला दी है (वास्तव में नायक रात को उसके पास नहीं रहा न उससे प्रेम ही करता है जैसा तुम बाहरी चिन्हों से अनुमान करती हो ।

अलंकार- विभावना और पर्यायोक्ति ।

इस टीका में दोहों का पूर्णापरक्रम हरि प्रकाश टीका के अनुसार रखा गया है। ७१० दोहों तक तो वही दोहे और वही क्रम हैं, और वही इति लगा दी गई है। हरिप्रकाश के अन्त में जो दोहे हैं उनमें से केवल एक " कुम पाय जन साहि " इत्यादि तो इस ग्रन्थ में रखा गया है और तीन छोड़ दिये गये हैं। और १४ दोहे अन्य पुस्तक से लेकर रख दिये गये हैं उनमें से कुछ तो बिहारी के हैं और कुछ इधर- उधर के, जो अन्य किसी दोहा इसमें इन्हीं चौदहों दोहों में सम्मिलित है ।

इस प्रकार इस युग में टीका और सम्पादन ही मुख्य रूप से हुए। इसके पश्चात हम आगे द्विवेदी युग के तुलनात्मक आलोचना के स्वरूप में रीति काव्य की आलोचनात्मकप्रक्रिया की दृष्टि पर आगे विचार करेंगे ।

—

(घ) तुलनात्मक आलोचना के स्वरूप में रीतिकाव्य की समीक्षा की दृष्टि

किसी भी वस्तु के सम्यक् अध्ययन और परीक्षण में तुलनात्मक दृष्टि के महत्व को अस्वीकार नहीं किया जा सकता। वस्तुओं के या प्रत्ययों के आपेक्षित महत्व और श्रेष्ठता का तो मूल आधार ही तुलना है, वस्तु के सामान्य परिचय की अपेक्षा विवेचनात्मक ज्ञान के लिए तुलनात्मक प्रणाली अधिक उपयोगी है। तुलनात्मक प्रणाली मूल्यांकन की तरह इस कार्य में भी आलोचक की सहायिका है। दो कवियों अथवा दो उक्तियों का तुलनात्मक अध्ययन पाठक को उक्ति के अन्तरंग में प्रविष्ट होकर उसके कलागत सौन्दर्य की यथार्थ अनुभूति में सहायक होता है। कहीं-कहीं दो कवियों की दो भिन्न-भिन्न विशेषताओं का उल्लेख है। माघ के पूर्व तक ही भारवि का यश था, बाद में तो उसका यश माघ की धूप की तरह धूमिल हो गया। 'पद-लालित्य' अर्थ-गौरव और उपमा की दृष्टि से माघ सर्वश्रेष्ठ कवि हैं क्योंकि अन्य कवियों में इनमें से किसी एक ही गुण का सौन्दर्य है और माघ में ये तीनों हैं[1]। हिन्दी के प्रसिद्ध प्रवाद वाक्यों में भी तुलनात्मक आलोचना के स्पष्ट दर्शन होते हैं। सूर को सूर और तुलसी को चन्द्रमा कहना तुलना के अतिरिक्त और क्या है[2]। कहने का तात्पर्य यह है कि साहित्य समीक्षा में तुलनात्मक पद्धति अत्यन्त प्राचीन है। आलोचना में प्रयुक्त प्रमुख प्रक्रियाओं में से तुलना भी एक है।

१- दंडिन: पद-लालित्यं भारवे रर्थगौरवम्
उपमा कालिदासस्य माघे सन्ति त्रयो गुणा: ।।

२- सूर सूर तुलसी शशी, उडुगन केशवदास ।
अब के कवि खद्योत सम, जहं- तहं करत प्रकाश ।।

इसलिए समीक्षा में यह तत्व ज्ञात अथवा अज्ञात रूप में विद्यमान रहता ही है। आपाततः तुलनात्मक न प्रतीत होने वाली समीक्षा के अन्तस्तल में भी तुलनात्मक प्रवृत्ति स्पष्ट परिलक्षित हो जाती है। आलोचना के विशद रूप का एक तत्व तुलना भी है। आधुनिक हिन्दी साहित्य-समीक्षा के प्रादुर्भाव-काल से ही इसके दर्शन होते हैं। द्विवेदी जी ने इस पद्धति का अनुसरण कई स्थानों पर किया है, इसका निर्देश उनके प्रसंग में हो चुका है। मिश्रबन्धु भी इसी श्रेणी-विभाजन की भित्ति पर खड़े हैं। इस प्रकार यह स्पष्ट हो जाता है कि आचार्य पद्मसिंह, कृष्णबिहारी मिश्र, लाला भगवानदीन आदि के पूर्व भी यह तुलनात्मक प्रणाली हिन्दी-साहित्य में अपने बीज रूप में ही विद्यमान ही नहीं थी, अपितु धीरे-धीरे विकसित होने लगी थी।

हिन्दी साहित्य में व्यवस्थित और प्रौढ़ तुलनात्मक पद्धति का प्रवर्तन तो आचार्य पद्मसिंह शर्मा की ` बिहारी सतसई ` नामक पुस्तक से हुआ। उनकी यह पुस्तक ` बिहारी-सतसई ` के भाष्य की भूमिका है। इसमें उस साहित्य परम्परा और शैली का निरूपण हुआ है जिसका अनुसरण बिहारी ने किया है। सातवाहन द्वारा संग्रहीत प्राकृत की ` गाथा सप्तशती ` और गोवर्धनाचार्य द्वारा प्रणीत ` आर्या-सप्तशती ` (संस्कृत ग्रन्थ) ये दो ग्रन्थ साहित्य-संसार के प्रसिद्ध रत्न हैं। ये दोनों-ग्रन्थ विषय और शैली की दृष्टि से ` बिहारी-सतसई ` के अनुरूप ही हैं। वस्तुतः बात तो यह है कि अपनी सतसई के प्रणयन के समय बिहारी के समक्ष ये दोनों ग्रन्थ आदर्श के रूप में थे और उसने इन्हीं की मुक्तक शैली में शृंगार प्रधान काव्य रचा है। बिहारी के अधिकांश दोहे भाव और निरूपण-शैली में इन ग्रन्थों के छन्दों से साम्य रखते हैं। अनेक स्थानों पर तो भावापहरण-सा प्रतीत होता है

जिसके आधार पर हिन्दी के कतिपय समालोचक बिहारी पर चोरी का आरोप लगाने में भी नहीं चूकते। आचार्य ने इन्हीं ग्रन्थों की शैली को समक्ष रखकर `बिहारी सतसई` का अध्ययन किया है। इन ग्रन्थों के छन्दों का तुलनात्मक अध्ययन करके उन्होंने बिहारी को चोरी के आरोप से मुक्त किया है और अनेक स्थानों पर तो इन ग्रन्थों से भी बिहारी की श्रेष्ठता प्रतिपादित की है। मिश्रबन्धुओं ने देव की साहित्यिक परम्परा का ध्यान नहीं रखा था। देव जिस श्रृंगार-प्रधान मुक्तक शैली को लेकर साहित्य-क्षेत्र में अवतीर्ण हुये थे उसको ध्यान में रखकर उसी शैली के अन्य कवियों से उनकी श्रेष्ठता का प्रतिपादन समीचीन था। इस स्तर की तुलनात्मक समीक्षा हिन्दी-साहित्य में आज भी विरल है। जायसी, तुलसी, कबीर आदि की देव और बिहारी के साथ सामान्य दृष्टि की तुलना से हिन्दी साहित्य का कोई उपकार होने वाला नहीं था। आचार्य पद्मसिंह ने अपने इस तुलनात्मक अध्ययन में इन अत्यक स्थावों को स्थान नहीं दिया है, नाम साम्य के कारण `दुर्गा सप्तशती` से `बिहारी सतसई` की तुलना करने वे नहीं बैठे हैं। हिन्दी के भी जिन अन्य कवियों की रचनाओं की तुलना बिहारी के दोहों से की गई है, उसमें भी आचार्य ने इस बात का पूरा ध्यान रखा है। किसी भी कवि को अन्य कवियों के सादृश्य से बचे रहना नितान्त असम्भव है। राजशेखर और आनन्दवर्धनाचार्य ने मौलिकता नवीन वस्तु की कल्पना में नहीं अपितु केवल भावों के चमत्कार में ही मानी है। राजशेखर ने तो यहां तक कह दिया है कि वणिक और कवि चोरी करे बिना नहीं रह सकते—

> दृष्ट पूर्वा अपि ह्यर्थाः काव्ये रस परिग्रहात्।
> सर्वे नवा इव भान्ति मधुमास इव द्रुमाः ॥

१- बिहारी सतसई : पद्मसिंह शर्मा, पृ०- २७

कभी-कभी एक भाव दो कवियों को स्वतन्त्र रूप से सूझ जाता है। यह सादृश्य केवल आकस्मिक है। ऐसी अवस्था में इनमें से किसी भी कवि पर मौलिकता के अभाव अथवा अन्य कवियों के भावों के अपहरण का दोष लगाना अन्याय है[1]। संस्कृत के गम्भीर ज्ञान का परिचय तो इनकी आलोचना की एक प्रधान विशेषता है।

हिन्दी का आधुनिक साहित्य बहुत कुछ रीतिकालीन काव्य परम्पराओं की प्रतिक्रियाओं का परिणाम है। रीतिकाल में शृंगाररस के चित्रण की नग्नता और अतिशयता के प्रति आज के समाज में एक तीव्र अरुचि जागृत हो गई थी। लोग उसकी कविता को अश्लील कहकर उससे नाक-भौं सिकोड़ने लगे थे। बिहारी की कविता के सम्बन्ध में आलोचकों की जो धारणा बन गई थी, उनके काव्य-सौष्ठव का मूल्य इन आलोचकों की दृष्टि में कम हो गया था, इसका एक कारण अभिसार रति आदि के वर्णन को अश्लील मानना भी था। बिहारी की कविता के वास्तविक महत्व को समझने के लिए शृंगार सम्बन्धी इस भ्रान्त धारणा का निवारण करना भी बहुत आवश्यक था। इसी उद्देश्य से आचार्य ने शृंगार-रस के महत्व का भी प्रतिपादन किया है। उनका कहना है कि इस विश्व में शृंगार-सम्बन्धी सामग्री उपलब्ध होती है और कवि उसकी ओर से आंख बन्द नहीं कर सकता है। इस तथाकथित अश्लीलता का वर्णन वेदों तक में मिलता है। इस सम्बन्ध में पण्डित जी ने राजशेखर को प्रमाण रूप में उद्धृत किया है[2]। शर्मा जी को परकीयादि के चित्रण अश्लील तो प्रतीत होते हैं, पर यदि कवि का उद्देश्य पाठक को ऐसे

१- बिहारी सतसई : पद्मसिंह शर्मा, पृ०- २७

२- वही, पृ०- ६

वर्णनों द्वारा नीति प्रष्ट करना न होकर इन धूर्त लीलाओं से उन्हें परिचित कराके सभ्य समाज को इन दुर्गुणों से रक्षा करना हो तो उसे भी वे अश्लील मानते हैं। शर्मा जी ने अपने इस मत की पुष्टि के लिए रुद्रट के काव्यालंकार के मत का आश्रय लिया है।

बिहारीलाल जी के काव्य- सौष्ठव के सम्बन्ध में मिश्रबन्धुओं की आलोचना ने कतिपय भ्रान्त धारणाओं को प्रोत्साहन दे दिया था। ऐसी धारणाओं को उच्छेदन करना भी सच्चे समालोचक का कार्य था। बिहारी के कला- सौन्दर्य से परिचित कराकर शर्मा जी ने आलोचना के क्षेत्र का एक महान् कार्य किया है। कतिपय कटु- पक्षपात और असहृदयतापूर्ण आलोचना के घटाटोप को हटाने के लिए पवन वेग की आवश्यकता थी और इसकी पूर्ति आचार्य ने कर दी है। उनके इस प्रयास से बिहारी के चन्द्र का सहृदयों को सुधापान का अवसर पुन: प्राप्त हो गया था। स्वच्छन्दतावादी विचारों के समर्थन में शर्मा जी ने संस्कृत के अधिकार शास्त्र के सिद्धान्तों को प्रमाणस्वरूप में उद्धृत किया है। इससे शर्मा जी ने स्वच्छन्दता एवं शास्त्रीयता के समन्वय का संकेत किया ही है। इसके अतिरिक्त संस्कृत साहित्यशास्त्र के चिन्तन की व्यापकता एवं प्रौढ़ता को भी शर्मा जी ने प्रकट कर दिया है[1]।

तुलनात्मक समालोचना की एक शास्त्रीय पद्धति को जन्म देने का श्रेय शर्मा जी को है। पण्डित जी का उद्देश्य बिहारी की अन्य कवियों से श्रेष्ठता प्रतिपादित करना है। हिन्दी के अन्य कवियों से बिहारी- भाव- सौन्दर्य में कहीं अधिक बढ़े हुए हैं, इसमें लेखक को कहीं सन्देह ही नहीं है। उन्होंने

१- बिहारी सतसई : पृ०- ७

संस्कृत-कवियों से भी बिहारी को बढ़ा-चढ़ा ही बताया है। पण्डित जी ने बिहारी और संस्कृत-कवियों के सम्बन्ध को उपमान और उपमेय का सम्बन्ध बताया है[1]। उनका कहना है संस्कृत के इन महाकवियों का भावसाम्य ही उनके काव्योत्कर्ष का परिचायक है। संस्कृत के कवियों ने बिहारी से कहीं अधिक सौन्दर्य है। अधिक सुन्दर वस्तु से साम्य का निरूपण करने का उद्देश्य बिहारी के भाव-सौन्दर्य की अतिशयता प्रकट करने का ही है पर वस्तुत: पण्डित जी को तो `व्यतिरेक` सम्बन्ध ही अभीप्सित है। इसमें `मतिभ्रम` हो सकता है, पर पक्षपात नहीं[2]। सम्भव है कि पण्डित जी का यह दृष्टिकोण पक्षपातपूर्ण न हो, पर उन्हें तो यह मतिभ्रम-मूलक भी नहीं प्रतीत होता है। बिहारी के श्रेष्ठत्व को वे हृदय से अनुभव करते हुए प्रतीत होते हैं।

रीतिकाल में काव्य की मूल प्रेरणा शब्द चमत्कार, उक्ति-वैचित्र्य और कल्पना की सजीवता थी वैसे रीतिकालीन कवियों, आचार्यों ने प्राय: सभी काव्यांगों का निरूपण किया है और संस्कृत आचार्यों द्वारा मान्य मतों का समर्पण करते हुये रस को ही काव्य की आत्मा भी कहा है, पर रस, भाव, जीवन-दर्शन आदि युग के प्रेरणा नहीं थे। कवि लोग रसोक्ति और स्वभावोक्ति को केवल काव्य परम्परा से बाध्य होकर ही काव्य कहते थे। रीतिकालीन काव्य-धारणा का आदर्श रूप में उपलब्ध होता है। उनके समान उक्ति-वैचित्र्य, अन्योक्तिपूर्ण कल्पना और विशेषत: इन्हीं से पुष्ट भाव-सौन्दर्य अन्यत्र दुर्लभ है। ये ही बिहारी की श्रेष्ठता के कारण हैं। बिहारी

१- बिहारी सतसई : पृ०- २७३

२- वही, २६३

के आलोचक पण्डित पद्मसिंह शर्मा जी ने भी युग की इस सामान्य विशेषता की अवहेलना नहीं की है। वे एक युग के मानदण्डों के आधार पर अन्य युगों की कला-कृतियों की आलोचना के पक्ष में नहीं थे। यही कारण है कि उन्होंने स्वभावोक्ति के मानदण्ड से बिहारी के काव्य की आलोचना करना अनुपयुक्त समझा है। शर्मा जी सब अलंकारों के प्राण अतिशयोक्ति या वक्रोक्ति को ही मानते हैं। बिहारी की अन्य कवियों से श्रेष्ठता स्थापित करते समय उनकी दृष्टि में काव्य का यही स्वरूप है। उन्होंने बिहारी के जिन दोहों की विशद व्याख्या की है, वे सभी किसी-न-किसी प्रकार के चमत्कार से अनुप्राणित हैं। आलोचक जिस पदावली का प्रयोग अपने आलोच्य प्रशंसा में उससे भी उनका यह दृष्टिकोण अत्यन्त स्पष्ट है। 'मजमून छीन लिया' आदि वाक्य का यही अभिप्राय है।

लेखक का उद्देश्य महत्व-निर्णय की अपेक्षा पाठक काव्य-सौष्ठव की अनुभूति जागृत करना अधिक है। 'नहिं पराग नहिं मधुर मधु, नहिं विकास इहि काल' इस दोहे के द्वारा कवि अपने आश्रयदाता को उपदेश देना चाहता है। यह उसकी हित-चिंता की दृष्टि से लिखा गया है। इस कार्य को मार्मिकता- भाव- सौन्दर्य और चमत्कारपूर्ण शैली में सम्पन्न करना ही कवि की सफलता है। 'गाथा सप्तशती,' 'आर्या सप्तशती' आदि के उदाहरणों की अपेक्षा यह दोहा अपने कार्य में अधिक सफल हुआ है। इस सौष्ठव का चित्रण जिन शब्दों में किया गया है उनसे सहृदय में अनुभूति जागृत करने की क्षमता है। 'इन सबकी अपेक्षा भौंरे के लिए बिहारी की हित-चिन्ता बहुत ही गम्भीर, मधुर और हृदयस्पर्शी है। न इसमें तटस्थता की झलक है, न रस-पान का प्रकारोपदेश है। न एक अधखिली कली को छोड़कर

खिली क्यारियों में खुले खेलने की छुट्टी है। वाह!" विषयासक्त मित्र के भावी अनर्थ की चिन्ता से व्याकुल सुहृदय की चिन्तोक्ति का क्या ही सुन्दर चित्र है। कहने वाले की एकान्तहितैषिता परिणामदर्शिता, विषयासक्त मित्र के उद्धार की गम्भीर चिन्ता के भाव इससे अच्छे ढंग पर किसी प्रकार प्रकट नहीं किये जा सकते[1]।" इन पंक्तियों में साहित्यिक सौन्दर्य का विश्लेषण प्रभावाभिव्यंजक और निर्णयात्मक दोनों प्रकारों से हुआ है। इन दोनों का सामंजस्य शर्मा जी की समालोचना की प्रमुख विशेषता है। पण्डित जी ने अनेक स्थानों पर अपनी उत्कृष्ट सहृदयता का बड़ा ही अच्छा परिचय दिया है। उनके विवेचन में भी बहुत बारीकी है। "गाथा सप्तशती" की एक गाथा में नायिका का प्रवासी पति आकर फिर विदेश जाने की सोच रहा है। इसी प्रसंग में कवि ने संयोग-काल की अत्यल्पता प्रदर्शित करने के लिए नायिका के केशों की "गुलफट" के अभी सीधे न होने का वर्णन किया है। लेकिन बिहारी ने इसी प्रसंग में नायिका के स्वाभाविक रंग के वापिस न आने का वर्णन किया है। इस व्यापार के चुनाव में अधिक कलात्मकता है। शरीर और मुख के रंग का स्वाभाविक होना अत्यन्त वांछनीय और अल्पकाल की क्रिया है। "गई हुई कान्ति का मुख पर फिर से आ जाना तो प्रिय-दर्शन का तात्कालिक प्रभाव है[2]। पण्डित जी ने इस दोहे की प्रशंसा करके प्रौढ़ सहृदयता का परिचय दिया है। छोटे छोटे पदों की बड़ी ही विशद व्याख्या हुई है। बिहारी के "सैननि बरजति" की व्याख्या करते हुए शर्मा जी कहते हैं: "वह सैननि बरजति" आंखों के इशारे से निषेध करती है। वह इस प्रपंच प्रसंग में सम्मिलित होते इतना भय खाती है कि शब्दों में मना करते

१-२ बिहारी सतसई : पद्मसिंह शर्मा, पृ०- ३६-३७, एवं ४० क्रमशः

भी डरती है, धीरे-धीरे बोल, यह भी इशारे से समझाती है, नहीं द्वारा प्रस्तुत इस प्रसंग में किसी प्रकार सम्मत होना तो दूर रहा कण्ठ द्वारा निषेध करते भी उसे संकोच है। धीरे से बोलने का इशारा भी इसलिए नहीं कर रही है कि वह चुपके से सुनना चाहती है, किन्तु कदाचित इसका कारण कोई और सुनकर इस बेतुकी बात पर सखी का उपहास न करे।" इन शब्दों से शर्मा जी की सहृदयता अत्यन्त स्पष्ट है। एक छोटी-सी पदावली में जो गूढ़ार्थ छिपा हुआ है, उससे दोहा कितना मर्मस्पर्शी हो जाता है। सहृदय पाठक को उसका सौन्दर्य द्विगुणित प्रतीत होने लगता है। यही शर्मा जी की आलोचना की विशेषता है।

पद्मसिंह शर्मा जी ने बिहारी सतसई के बहुत से दोहों को ध्वनिकाव्य अथवा उत्तम-काव्य के उदाहरण माना है। "हनहनाय कवि छवि जाय" से वियोग सन्ताप का अधिक व्यंग्य है। इस प्रकार वाच्यातिशयी व्यंग्य होने से यह दोहा ध्वनि-काव्य का उत्तम उदाहरण है[1]। यह दोहा अप्रस्तुत प्रशंसा या समासोक्ति के रूप में कवि की कविता पर भी पूर्णतया घटित होता है" ------- व्यतिरेक और भेदकातिशयोक्ति की हृदयगम यथार्थता समझ में आ सकती है[2]। अनेक स्थानों पर हाव-भाव आदि का भी उल्लेख है।

पद्मसिंह शर्मा जी लिखते हैं--" बिहारी की कविता जितनी चमत्कारिणी है उतनी ही गहरी, गूढ़ और गम्भीर है। उसकी चमत्कृति और मनोहारिता का प्रभाव इससे अधिक और क्या होगा कि समय ने समाज

१- बिहारी सतसई : पद्मसिंह शर्मा, पृ०-४२

२- वही, पृ०-४२

की रुचि बदली, पर वर्तमान समय के सुरुचि- सम्पन्न कविता- प्रेमियों का अनुराग उस पर आज भी वैसा ही बना है। जैसे पहले पुराने ख्याल के `खूसट` उन पर लट्टू थे, आज नई रोशनी के परवाने भी वैसे ही जी जान से फिदा हैं[1]। पण्डित जी बिहारी के वर्ण्य- विषय तथा उनकी प्रतिपादन शैली के सौन्दर्य पर भी प्रकाश डालते हैं। वे कहते हैं ` बिहारी की शृंगारमयी कविता है। यद्यपि इसमें नीति, भक्ति, वैराग्य आदि के दोहों का भी सर्वथा अभाव नहीं है। इस रंग में बिहारी ने जो-कुछ कहा है वह परिमाण में थोड़ा होने पर भी भाव- गाम्भीर्य, लोकोत्तर चमत्कार आदि गुणों में सबसे बढ़ा- चढ़ा है। ऐसे वर्णनों को पढ़कर- सुनकर बड़े- बड़े नीति धुरन्धर, भक्ति-शिरोमणि और वीतराग महात्मा तक झूमते देखे गये हैं, फिर ` बिहारी सतसई ` का मुख्य विषय शृंगार ही है, उसमें दूसरे रसों की चाशनी मुंह का मजा बदलने के लिए है[2]।` इन कुछ वाक्यों के अतिरिक्त पण्डित जी ने बिहारी की सामान्य प्रवृत्तियों का दिग्दर्शन नहीं कराया है। शुक्ल जी ने भी पण्डित जी की आलोचना के इस अभाव की ओर संकेत किया है। मिश्र बन्धुओं ने अपनी आलोचना में उस प्रवृत्ति का कुछ थोड़ा- सा आभास दिया था। दूसरे शृंगारी कवियों से अलग करने वाली बिहारी की विशेषताओं के अन्वेषण और अन्तःप्रवृत्तियों के उद्घाटन का प्रयत्न इसमें नहीं हुआ है[3]।

डा० रसाल ने अपनी ` आलोचनादर्श ` नामक पुस्तक में पण्डित जी की पक्षतापूर्ण आलोचना की ओर सहृदय पाठकों का ध्यान आकृष्ट किया है।

१- बिहारी सतसई ; पद्मसिंह शर्मा, पृ०- १०

२- वही, पृ० १०

३- हिन्दी साहित्य का इतिहास : आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, पृ०- ५८७

वे लिखते हैं : " संस्कृत के भी उन श्लोकों एवं उनके रचयिताओं से बिहारी के उन दोहों को, जो उन्हीं के आधार पर या उन्हीं के भावों को लेकर एक प्रकार से अनुवाद के रूप में लिखे गये हैं और मूल श्लोक से कहीं हटकर हैं, विशेषता दी गई है[1]।

तुलनात्मक आलोचना पद्धति के साथ ही मिश्रबन्धुओं ने बिहारी और देव के झगड़े को भी जन्म दे दिया था। उन्होंने देव को सर्वश्रेष्ठ कवि के रूप पर आसीन करके तथा बिहारी की कुछ त्रुटियों का संकेत करके हिन्दी के आलोचकों का ध्यान इस ओर आकृष्ट कर दिया है। जबकि कृष्णबिहारी मिश्र जी कहते हैं कि देव को बिहारी से बढ़कर मानने का यह अर्थ कदापि नहीं कि हम बिहारी के विरोधी हैं। बिहारी की कविता पढ़ने में हमने जितना समय लगाया है, उतना देव की कविता में नहीं। हमें बिहारी का विरोधी बतलाना सत्य से कोसों दूर है। बिहारी के यश के संरक्षण के लिए कई विद्वानों को कटिबद्ध होना पड़ा। बिहारी की सतसई नामक पुस्तक इसी यश- संरक्षण का परिणाम थी, तैयार हो गया था। इसी वाद- विवाद के प्रसंग में पण्डित कृष्णबिहारी मिश्र ने देव और बिहारी नामक आलोचनात्मक ग्रन्थ लिखा। यह ग्रन्थ पं० पद्मसिंह शर्मा की " बिहारी सतसई " की पद्धति पर ही लिखा गया है। इसमें देव की प्रधानता बिहारी से तथा अन्य बहुत से कवियों से तुलना भी की गई है। इस तुलना का मुख्य आधार देव को सर्वश्रेष्ठ सिद्ध करने में ही है। यह ग्रन्थ बिहारी की सतसई के प्रत्युत्तर की दृष्टि से साधारण खण्डन कर दिया गया है। शर्मा जी की

१- डा० रसाल : आलोचनादर्श, पृ०- १११

तरह पण्डित कृष्ण बिहारी मिश्र ने भी कवियों के पारस्परिक भाव-सादृश्य को अनिवार्यता स्वीकार की है। उनकी मान्यता है कि बड़े-बड़े कवि भी अपने पूर्ववर्ती कवियों के भावों का उपयोग करते हैं। कृष्णबिहारी मिश्र जी कहते हैं कि कवि अगर अपने भाव में कुछ नूतन चमत्कार ला देता है तो उसका भाव पहरण क्षम्य है[1]।

पद्मसिंह शर्मा जी ने फुटकर छन्दों की तुलनात्मक आलोचना भी की। उसी परम्परा को आगे बढ़ाते हुए कृष्णबिहारी मिश्र जी ने 'देव और बिहारी' नामक पुस्तक लिखी। इसमें भी देव और बिहारी के फुटकर छन्दों की समालोचना हुई है। आलोचना का आधार प्रायः सर्वत्र ही शास्त्रीय है। काव्य की उत्तमता की कसौटी पर विचार करते हुए उक्त लेखक ने कहा है : "गुणाधिक्य अलंकार-बाहुल्य- रस-परिपाक एवं भाव चमत्कार कविता की उत्तमता की कसौटी रहनी चाहिए[2]। बिहारी की सतसई में काव्यांगों के निर्देश की अपेक्षा दाद देने, प्रशंसा करने और सहृदयता की दुहाई देने की प्रवृत्ति अधिक है। वे छन्द की नायिका रस, अलंकार-गुण आदि सभी दृष्टियों से व्याख्या करते हैं[3]। बिहारी के एक ही छन्द में अनेक अलंकारों का निरूपण होता है।

मानहुं तन छबि अच्छ को स्वच्छ राखिबे काज।
दृग पग पोछन को किये भूषण पायंदाज ॥

1- देव और बिहारी : कृष्णबिहारी मिश्र, पृ०-८४-८५

2- वही, पृ०-२३६

3- वही, पृ०-१२४, १२७

इस छन्द में परिकरांकुर, अनुगुन, विभावना, तद्गुण, सम, लेश आदि १६ अलंकारों को दिखाया गया है[1]। कवि की अनुभूति के साथ इतना तादात्म्य होने के कारण ही मिश्र जी के वर्णनों में इतनी सजीवता आ सकी है। देव के ग्रीष्म-वर्णन की आलोचना करते हुए लेखक सजीव चित्र उपस्थित करते हैं :

" ग्रीष्म-निशा में चांदनी की अनुपम बहार एवं वृषभानुनन्दिनी के शृंगार-चमत्कार का आश्रय लेकर कवि का सरस उद्गार बड़ा ही मनोरम है। स्फटिक शिला-निर्मित सौध, उसमें समुज्ज्वल फर्श-फर्श पर खड़ी तरुणियाँ, उनके अंगों की आभा और सबके बीच में श्री राधिका जी " उधर अम्बर में ज्योत्स्ना का समुज्ज्वल विस्तार, तारिका-मण्डली की झिलमिलाहट और पूर्ण चन्द्र मण्डल है ------देखकों का मन इस सादृश्य-मात्र दृश्य को देखकर लोट-पोट हो जाता है, वे इस सादृश्य का मान लेने लगते हैं। उनकी समुज्ज्वलता उपमा प्रस्फुटित होती है[2]। " लेखक ने इन दोनों कवियों की काव्य-कला कुशलता का विवेचन इसी शैली में किया है। इन कवियों के भाव-सौन्दर्य से लेखक सर्वत्र ही अभिभूत प्रतीत होता है और उसी दशा में कुछ अनुभूतिव्यंजक और प्रशंसात्मक शब्द अपने-आप निकल जाते हैं। " अन्तिम पद का भाव मानो सोने की अंगूठी में हीरे का नग जड़ दिया हो अथवा पवित्र मन्दाकिनी में निशेश नन्दिनी स्नान कर रही हो[3]। कुछ समय तक उसी प्रकार खड़ी रहने की ग्वालिन के प्रति कवि की आज्ञा कितनी विदग्धतापूर्ण है, स्वाभावोक्ति

१- देव और बिहारी : कृष्णबिहारी मिश्र, पृ०- १२३

२- वही, पृ०- १०६

३- वही, पृ०- ३५

का सामंजस्य कितना सुखद है[1]। पण्डित कृष्णबिहारी मिश्र जी की आलोचना तन्त्र और सहृदयता दोनों पर ही आधारित है। शुक्ल जी तथा और आचार्य पं० नन्ददुलारे वाजपेयी में इस प्रकार के समन्वय के कहीं - कहीं दर्शन होते हैं। तन्त्र- प्रभाव और निर्णय तीनों तत्व ही इस काल के (शुक्ल जी के पूर्व यानि द्विवेदी युग की) आलोचना की प्रधान विशेषता है। इनके अपेक्षाकृत अधिक प्रौढ़ और समन्वित रूप के दर्शन कृष्णबिहारी मिश्र की आलोचना में होते हैं।

कृष्णबिहारी मिश्र कृत ` देव और बिहारी ` नामक ग्रन्थ में फुटकर छन्दों की तुलनात्मक आलोचना भी खूब हुई है। यह पद्धति उन्हें पूर्ववर्ती आलोचक पद्मसिंह शर्मा जी से मिली। लेकिन इसमें भी मिश्र जी ने मौलिक उद्भावना का परिचय दिया है। उन्होंने दोनों कवियों के साम्य वाले समान छन्दों का ही तुलनात्मक अध्ययन नहीं किया है प्रत्युत उनके विषम छन्दों की भी आलोचना करके इस पद्धति को सर्वांगीण बनाने की चेष्टा की है। छोटे छन्द में आवश्यक बातें न छोड़ते हुये, उचित कैसे निभाई जाती है, यह चमत्कार बिहारीलाल में है तथा बड़े छन्द में, परन्तु भाव और भाषा के सौन्दर्य को बढ़ाने वाले अनेक कथनों के साथ भाव कैसे विकास पाता है, यह अपूर्वता देव की कविता में है[2]। "

पं० कृष्णबिहारी मिश्र जी ने देव को रसवादी कवि माना है। केशव से उनकी भिन्नता बतलाते हुए वे कहते हैं— " केशवदास ने अलंकार का प्रस्फुरण वास्तव में बड़े ही मार्के का किया है। उधर देव कवि का काव्य रस प्रधान है[3]। उन्होंने केशव के आचार्यत्व की प्रशंसा की है, पर केशव की

१-२-३ देव और बिहारी : कृष्णबिहारी मिश्र, पृ० - २३१, २५६,२५६ क्रमशः

अपेक्षा देव में कवित्व-शक्ति अधिक लगती है[१]।

देव और बिहारी के वर्ण्य विषयों की आलोचना करते हुए कृष्णबिहारी मिश्र जी ने उन विषयों की प्रकृति पर विचार किया है। देव ने अपने सभी ग्रन्थों में प्रेम का वर्णन किया है। उन्होंने अपनी 'प्रेमचन्द्रिका' नामक ग्रन्थ में प्रेम के लक्षण, स्वरूप, माहात्म्य आदि पर भी विचार किया है। उनका प्रेम-वर्णन क्रमबद्ध है। उन्होंने वासना और शुद्ध प्रेम में अन्तर भी स्पष्ट कर दिया है। प्रेम के सहायक तत्व मन, नेत्र आदि का भी विशद वर्णन है।' देव में परकीया का वर्णन हुआ तो है पर वे स्वकीया के प्रेम को ही अधिक महत्व देते हैं। बिहारी के प्रेम-वर्णन में परकीया-प्रेम की प्रधानता है। वे प्रेम का क्रमबद्ध वर्णन भी नहीं कर सके हैं। बिहारी देव की तरह प्रेम और वासना के अन्तर को स्पष्ट करने में सफल नहीं हुए हैं। इस प्रकार आलोचक ने इन दोनों कवियों के वर्ण्य विषय के आधार पर भी उनकी उन विशेषताओं का निरूपण किया है, जिसमें इन दोनों कवियों का साम्य और वैषम्य दोनों ही अत्यन्त स्पष्ट हैं। इसके अतिरिक्त पण्डित श्री कृष्ण बिहारी मिश्र इन दोनों कवियों का सामान्य परिचय देते हुए उनकी जीवन एवं काव्य-सम्बन्धी अन्य विशेषताओं का भी निरूपण करते हैं। इसमें इन कवियों के लिए रस, नायक-नायिका, छन्द-निर्वाचन, ग्रन्थों की संख्या तथा उनकी लोकप्रियता आदि अनेक बातों का उल्लेख हुआ है। ऐसे प्रसंगों में मिश्र जी की शैली परिचयात्मक ही अधिक है। आलोचक ने 'मन' और 'नेत्र' के अध्यायों में भी यत्र-तत्र दोनों कवियों की विशेषताओं का

१-देव और बिहारी : पं० कृष्णबिहारी मिश्र, पृ०-२८४

उल्लेख करके उनकी काव्य-शैली और वर्ण्य विषय के स्वरूप-सम्बन्धी अन्तर को स्पष्ट किया है। " दोनों कवियों की कविताओं से तुलना कसौटी पर कसी जाकर निश्चय दिलाती है कि बिहारी देव की अपेक्षा अतिशयोक्ति के अधिक प्रेमी हैं एवं देव स्वाभावोक्ति और उपमा का अधिक आदर करने वाले हैं[1]। "

कृष्णबिहारी मिश्र जी अपने ग्रन्थ 'देव और बिहारी' में लिखते हैं कि " बिहारीलाल की अपेक्षा देव ने प्रेम का वर्णन अधिक और क्रमबद्ध किया है। उनका वर्णन शुद्ध प्रेम के स्फुरण में विशेष हुआ है। बिहारीलाल का वर्णन न तो क्रमबद्ध ही है, न उसमें विषय-जन्य और शुद्ध प्रेम में विलगाव उपस्थित करने की चेष्टा की गई है। देव ने परकीय का वर्णन किया है और अच्छा किया है, परन्तु परकीया-प्रेम की उन्होंने निन्दा भी खूब की है और स्वकीया का वर्णन उससे भी बढ़कर किया है। मुग्धा स्वकीया के प्रेमानन्द में देव मग्न दिखाई पड़ते हैं। पर बिहारी ने परकीया का वर्णन स्वकीया की अपेक्षा अधिक किया है[2]। "

कृष्णबिहारी मिश्र जी ने भाषा पर विचार करते हुए अर्थालंकारों का निर्वचन तो अनेक स्थानों पर किया ही है। देव और बिहारी के अनुप्रास का सुन्दर प्रयोग भी किया है, इनका निरूपण भी हुआ है। केशव और देव की भाषा के मौलिक अन्तर का भी स्पष्टीकरण हुआ है। देव की भाषा केशव की अपेक्षा इतनी अधिक मधुर क्यों है ? दोनों के शब्द-चुनाव का दृष्टिकोण क्या है ? इस प्रकार के कई एक गम्भीर प्रश्नों पर विचार

१-२ देव और बिहारी : कृष्णबिहारी मिश्र, पृ०-२२७, १५५ क्रमशः

करते हुए लेखक ने दोनों कवियों की भाषा की मुख्य विशेषताओं का उल्लेख किया है। " मुख्यतया दोनों ही कवियों ने ब्रजभाषा में कविता की है, पर केशव की भाषा में संस्कृत एवं बुन्देलखण्डी के शब्दों को विशेष आश्रय मिला है। संस्कृत शब्दों की अधिकता से केशव की कविता में ब्रजभाषा की सहज माधुरी न्यून हो गई है। संस्कृत में मिश्रित वर्ण एवं टवर्ग का प्रयोग विशेष अनुचित नहीं माना जाता परन्तु ब्रजभाषा में इनको श्रुति-कटु मानकर यथासाध्य इनका कम व्यवहार किया जाता है। केशवदास ने इस भावन्दो पर विशेष ध्यान नहीं दिया है। इधर देव ने मीलित वर्ण, टवर्ग एवं रेफ युक्त वर्णों का व्यवहार बहुत कम किया है। सो जहां तक श्रुतिमाधुर्य का सम्बन्ध है, देव की भाषा केशव की भाषा से अच्छी है। केशव की भाषा बहुत-कुछ क्लिष्ट भी है। ------- शब्दों की तोड़-मरोड़ कम करने तथा व्याकरण-संगत भाषा लिखने में वह देव से अच्छे हैं। --- देव की भाषा लिखने में लोच, अलंकार प्रस्फुरण की सरलता एवं स्वाभाविकता अधिक है। हिन्दी भाषा के मुहावरे एवं लोकोक्तियाँ भी देव की भाषा में सहज सुलभ हैं[1]। " कवि की विचारधारा के स्पष्टीकरण के लिए विश्लेषणात्मक और वैज्ञानिक व्याख्या की आवश्यकता थी, उसका नितान्त अभाव है[2]। इनमें आलोचना की प्रौढ़ता नहीं आ पाई है। एक स्थान पर परकीया-चित्रण के आधार पर लेखक ने बिहारी की चारित्रिक विशेषताओं की ओर संकेत किया है[3]। इनमें मनोवैज्ञानिक समालोचना के तत्वों का साधारण आभास मिलता है। विभिन्न समालोचना-पद्धतियों के अस्पष्ट

१-२-३ देव और बिहारी : कृष्णबिहारी मिश्र, पृ०-२८, ३००-३०२, १६२ क्रमशः

तत्व द्विवेदी तथा मिश्रबन्धुओं आदि सभी में मिलते हैं पर वे उनकी प्रधान विशेषताएं नहीं मानी जा सकतीं। मिश्र जी ने बिहारी की केवल निन्दा ही नहीं कि बल्कि मुक्त कण्ठ से उनकी प्रशंसा भी की है। " अधर धरत हरि के परत " वाले दोहे के काव्य सौष्ठव से अभिभूत होकर हठात् उनके मुख से निकल पड़ता है—" कैसा चमत्कारमय दोहा है। सब कवियों की सूझ इतनी विस्तृत कहां होती है[1]। बिहारी लाल जी का विरह-वर्णन मिश्र जी के मत में बहुत ही सुन्दर है, उसमें उन्होंने मार्मिकता के दर्शन किये हैं। " बाला और बल्ली का कितना मनोहर रूपक है। घनश्याम का श्लिष्ट प्रयोग कैसा फबता है। कुम्हलाई हुई लता पर हठात् जल पड़ने से वह जैसे लहलहा उठती है वैसे ही विकल विरहणी का घनश्याम के वर्णन से सब दुःख दूर हो जायगा। सखी यह बात नायिका से कैसी मार्मिकता के साथ कहती है। बिहारीलाल का विरह वर्णन निवेदन कितना समीचीन है।"

पं० कृष्ण बिहारी मिश्र जी ने दोनों कवियों की विशेषताओं की प्रशंसा की है, पर उन्हें देव में बिहारी की अपेक्षा अधिक काव्य सौन्दर्य प्रतीत होता है। देव रसवादी कवि हैं। उन्होंने अपने युग की प्रवृत्ति के अनुसार चमत्कार को अपने काव्य में आश्रय दिया है, पर फिर भी उनकी वृत्ति रसोक्तियों में अधिक रमी है। इस दृष्टि से वे प्रशंसा के भाजन हैं। रसवादी दृष्टि को ही आलोचना का प्रधान आधार मानने में मिश्र जी ने केवल काव्य की भाषा की आत्मा को ही नहीं पहिचाना है, अपितु आधुनिक युगचेतना को भी समझा है। रीतिकाल की तरह द्विवेदी युग चमत्कारवादी युग नहीं

१- देव और बिहारी : कृष्णबिहारी मिश्र, पृ०-११२

था । उसमें रसवादी दृष्टिकोण का ही प्राधान्य होता गया है । देव की चमत्कार प्रयोग को तत्कालीन प्रभाव का परिणाम बताकर रीतिकालीन चेतना का निर्देश भी नहीं है । इसमें कवि के व्यक्तित्व एवं युग-चेतना दोनों का विवेचन हो गया है । बिहारी की अपेक्षा उन्हें श्रेष्ठ बताना विवाद-स्वरूप हो सकता है और किसी को देव को श्रेष्ठ बताने में पक्षपात की गन्ध भी आने लगे तो कोई आश्चर्य की बात नहीं । उन्होंने भाषा-माधुरी, मानवीय प्रकृति के चित्रण की सजीवता, अलंकार, रस आदि की स्पष्टता, व्यापक ज्ञान और जीवन की गम्भीर अनुभूति तथा उनका काव्य पर प्रभाव आदि अनेक दृष्टियों से देव का स्थान बिहारी की अपेक्षा ऊंचा माना है । मिश्र जी कहते हैं कि जिन कारणों से हमने यह मत दृढ़ किया है उनका उल्लेख पुस्तक के स्थल-स्थल पर है ।

आश्ये देव की कविता के ऊपर दिखलाए गए गुण स्मरण रखने के लिये निम्नलिखित छन्द याद कर लीजिए ।

> डार द्रुम-पालन, बिछौना नव पल्लव के,
>
> सुमन-झिंगूला सोहै तन-छवि भारी है ।
>
> पवन झुलावै, केकी-कीर बतावै 'देव'
>
> कोकिल हलावै-हुलसावै कर तारी दै ।
>
> पूरित पराग सों उतारा करै राई-नोन,
>
> कुंद-कली नायिका लतान सिर सारी दै ।
>
> मदन-महीपजू को बालक बसंत, ताहि,
>
> प्रातहि जगावत गुलाब चटकारी दै ।[1]

1-देव और बिहारी : कृष्णबिहारी मिश्र, पृ०-२४१

बिहारी और देव के वाद-विवाद के पश्चात् तीसरा तथा अन्तिम आलोचनात्मक ग्रन्थ लाला भगवानदीन जी का बिहारी और देव है। इसमें मिश्रबन्धुओं द्वारा दिये गये बिहारी के दोहों के अर्थ में स्थान-स्थान पर अशुद्धियों का निर्देश दिया गया है। उनका कहना है कि मिश्रबन्धु देव की कविता के भी शुद्ध और साहित्यिक संस्करण का सम्पादन नहीं कर सके हैं। ` यमक ` के उल्टे-सीधे अर्थ करने का यही कारण है। कवि-डाकु के पार के। सब वार्तो कर दिया है। न जाने अर्थ क्या वे समझे हैं। जम्बूरस बुन्द के स्थान पर ` जम्बूरस बुन्द ` चार देकर उसका तात्पर्य भी भ्रष्ट कर दिया गया है। त्योयो-जाति का अर्थ टिप्पणी में लिखा है। ` तोज गाय उचक जाने वाली नहीं महाराज ! यह अर्थ तो नहीं है ठीक अर्थ है तोपी जाति बछड़े दूध पिलाये लेती है। दीन जी ने स्पष्ट शब्दों में कहा है कि मिश्रबन्धुओं ने या तो बिहारी की कविता समझी ही नहीं, या जानबूझकर देव का पक्षपात किया है। दीन जी ने मिश्रबन्धुओं के पाठ को कई स्थानों पर शुद्ध भी किया है[1]। लाला भगवानदीन कहते हैं कि बिहारी बेचारे पर मिश्रगण ने तीन पुश्त से लगातार चढ़ाई बोल दी है। एक बिहारी पर चार-चार बिहारियों का धावा देखकर बेचारा हिन्दी साहित्य संसार घबड़ा उठा है। लखनऊ प्रान्त के निवासी बिहारियों ने रसिकराज कृष्ण जी की जन्मभूमि मथुरा नगर के निवासी बिहारी की कविता को हल्की ठहराकर ` देव ` पर बेतरह आसक्ति दिखाई है, यह देखकर सबको आश्चर्य हो तो कोई अनुचित नहीं है[2]।

१- बिहारी और देव : लाला भगवानदीन, पृ० - ४३

२- वही, पृ० - ४४

नवरत्न पुस्तक उठाकर देखिये और उसका २२४वां पेज देखिये मिश्रबन्धुओं ने बिहारी के दस दोष दिखलाये हैं। पहला दोष तो लगाया गया है—

" आकु, उड़ायक आदि पद इन्होंने बना भी लिये हैं।" हम कहते हैं कि यह दोष है, इस दोष के दोषी देव भी हैं, और बिहारी से कहीं अधिक दोषी हैं। दूसरा दोष जो बिहारी पर लगाया गया है(नवरत्न पृष्ठ संख्या- २२६) वह स्वयं मिश्रबन्धु का दोष है। आप लिखते हैं "एकाध स्थान पर इन्होंने असमर्थ शब्द भी कहे हैं यथा दीजतु और ज्यों—

" सब दिनु दिनुहीं ससि उदै दीजतु अरघ अकाउ
जात जात ज्यों राखियतु पियको नाम सुनाय"[१]।।

यहां " दीजतु " के देवेंगी या देती हैं " का और ज्यों से ज्यों- त्यों का अर्थ लिया गया है, पर ये अर्थ वर्ण तथा प्रकट करने में असमर्थ हैं " नहीं । मिश्रबन्धु जी आप जबरजस्ती कर रहे हैं। जानबूझ कर आप बिहारी को बदनाम कर रहे हैं। आपने प्रभुदयाल पाण्डे वाली टीका से अशुद्ध पाठ लिया है। बिहारी जी की सतसई पर जितनी टीकाएं लिखी गई हैं उनमें से पांडे जी की यह पुस्तक महाभ्रष्ट है। अन्य प्रतियों में देखने की तकलीफ आप ने ज़रा भी नहीं उठाई। ज़रा " हरिप्रकाश टीका " का बिहारी- बिहार पर नज़र डाल लेते तो आपका भ्रम दूर हो जाता। इसमें " दीजतु " के स्थान पर देहैं शुद्ध पाठ छपा हुआ है। ज्यों का भी अर्थ करने में जबरदस्ती हरिप्रकाश टीका में ज्यों और बिहारी बिहार में " जिस " शुद्ध पाठ मौजूद है। पर आपकी तो मंशा है कि किसी प्रकार बिहारी को देव के मुकाबिले में नीचा

१- बिहारी और देव : पृ०- ६

दिखाया । फिर भला आप शुद्ध पाठ क्यों ढूंढने लगे । दीन जी की यह पुस्तक प्रधानत: मिश्रबन्धु की कटु आलोचना का प्रत्युत्तर देने के अभिप्राय से लिखी गई है। जो दोष बिहारी की कविता में मिश्रबन्धुओं द्वारा बताए गए, वे ही दीन जी ने " देव " की कविता में निकाले हैं। कुछ छन्दों के आधार पर बिहारी पर लगाये दुरान्वय दूषण के आरोप का खण्डन करते हुए दीन जी लिखते हैं। " दोहा छन्द ही कितना बड़ा है जो दुरान्वय दोष से क्लिष्टता आ जायगी । यदि मान भी लिया जाय कि यह दोष है, तो क्या मिश्रबन्धु यह कह सकते हैं कि देव के छन्दों में यह दूषण कहीं नहीं है । हमारी समझ में तो देव में यह प्रचुरता से पाया जाता है[1]। " इसी प्रकार दीन जी ने बिहारी की " शौकीनी " की रक्षा की है। " आंगुरी छाती छैल छुवाय " से मिश्रबन्धुओं ने बिहारी को " शौकीन " कह दिया और न दीन जी उसका जवाब देते हैं और न ही मिश्रबन्धुओं को यह भी विचारना चाहिए था कि जिस कवि ने " अष्टयाम " और जाति-विलास " जैसे ग्रन्थ लिखे हैं, वह कितना बड़ा शौकीनी पोषक मनुष्य रहा होगा । प्रत्येक जाति की स्त्री के गुणात्मक गौर से देखना और घड़ी-घड़ी के कृत्य बतलाना भलमनसी का काम तो कहा नहीं जा सकता । --- देखना ही हो तो पाठक " प्रेमचन्द्रिका " ग्रन्थ के ३६वें पृष्ठ में ३७वां छन्द देखें[2]। दीन जी ने देव के द्वारा तोड़े-मरोड़े शब्दों की सूची दी है और इस प्रकार बिहारी को इस दोष से मुक्त करना चाहा है[3]। इस प्रकार कहीं-कहीं मिश्रबन्धुओं के द्वारा निर्दिष्ट दोषों का निराकरण उनकी गलतियों को दिखाकर भी किया गया है। बिहारी

१- बिहारी और देव : लाला भगवानदीन, पृ०- २३

२- वही, पृ०- २३

३- वही, पृ०- १७- १६

पर चोरी का अपराध लगाया गया था। इसलिए दीन जी ने देव के भावापहरण में अनेक उदाहरण दिये हैं। बिहारी में जिन दोषों की उद्भावना मिश्रबन्धुओं ने की है, उन्हीं दोषों से पूर्ण देव की कविता को सिद्ध करना इस आलोचना का प्रमुख उद्देश्य प्रतीत होता है। उसी पद्धति और उन्हीं तर्कों से देव पर दोष लगा देना इनके आलोचना की प्रधान विशेषता मानी जा सकती है[१]। दीन जी का निम्नलिखित वाक्य उनकी आलोचना के यथार्थ स्वरूप का अच्छा परिचायक है। जैसे उन्होंने सर्वत्र अपनाया है— " पं० कृष्णबिहारी मिश्र अपने " देव और बिहारी " के २४वें पृष्ठ पर लिखते हैं— " सीतल- जैसे बड़े कवियों को देव जी, के भाव अपनाने में लालायित देखकर पाठक देव जी की भावोत्कृष्टता का अन्दाजा कर सकते हैं। " हम इस वाक्य को इस प्रकार लिखते हैं " देव- जैसे महाकवि को बिहारी के भाव अपनाने में लालायित देखकर पाठक बिहारी की भावोत्कृष्टता का अन्दाजा सहज में कर सकते हैं[२]। "

मिश्रबन्धुओं की आलोचना एकांगी थी। उन्हें बिहारी में दोष- ही- दोष दिखाई पड़े थे। उनका उद्देश्य देव को बिहारी से श्रेष्ठ सिद्ध करना था। दीन जी की यह पुस्तक बिहारी के संरक्षण के लिए लिखी गई है। इसमें भी आलोचक का ध्यान देव के अधिकतर उन्हीं छन्दों की ओर गया है जिनमें अपेक्षाकृत भाव- सौन्दर्य की कमी है। इतने ग्रन्थों से सभी उक्तियाँ समान रूप से सुन्दर नहीं हो सकती हैं। उनके आधार पर कवि के महत्व को कम करना आलोचना का दुरुपयोग मात्र है। मिश्रबन्धुओं ने इसी को आश्रय दे दिया था और दीन जी को इसे बाध्य होकर अपनाना पड़ा। भावापहरण

१- बिहारी और देव : लाला भगवानदीन, पृ०- ३४
२- वही,

वाली बात भी कुछ ऐसी ही है। भावों का आदान-प्रदान होता ही रहता है। कुछ भाव तो युग की सम्पत्ति होते हैं। उन्हीं को कृष्णबिहारी मिश्र जी ने भावों के सिक्के कहा है। इन भावों के चित्रण तो सभी कवि करते हैं। वे उस काल की शैली के मुख्य अंग हो जाते हैं। बिहारी और देव के भावसाम्य का एक कारण यह भी है फिर भावों के आदान-प्रदान में सर्वत्र ही भावों का सुन्दर रूप नहीं रह पाता है कि कुछ रुचिवैचित्र्य के लिए भी तो स्थान है। एक ही भाव किसी को सुन्दर किसी को असुन्दर लग सकता है। मिश्रबन्धुओं ने अपनी आलोचना में इतना विवेक नहीं किया और दीन जी उसी शैली को अपनाकर उनकी आलोचना का उत्तर दे देते हैं।

लाला भगवानदीन की पुस्तक द्वारा आलोचना के विकास के कोई नवीन प्रकृति नहीं आती है। हां, यह झगड़ा हमेशा के लिए शान्त अवश्य हो जाता है। क्योंकि `बिहारी और देव`[1] के झगड़े की यह अन्तिम पुस्तक है। इन आलोचनाओं में रुचि-वैचित्र्य का ही प्राधान्य रहा है। इसलिए अब तक इन्हीं सभी पुस्तकों को एक प्रकार से निर्णयात्मक कोटि की आलोचना कह सकते हैं। `देव` देव ही है और केशव `देवेश` हैं। देव और केशव में जमीन-आसमान का अन्तर है[1]। इस प्रकार की आलोचना नितान्त वैयक्तिक निर्णयात्मक कोटि की है। इससे पूर्ववर्ती आलोचकों ने शास्त्रीय आधार भी अपनाया था और कहीं-कहीं वे प्रभाववादी भी हो गये थे। पर दीन जी में यह दोनों ही तत्व स्पष्ट नहीं है। बिहारी के प्रति दीन जी ने पक्षपातपूर्ण दृष्टि रखी है, इसे अस्वीकार नहीं किया जा सकता।

१- बिहारी और देव : लाला भगवानदीन, पृ०- ३८-३९

सम्भवत: इस झगड़े का अन्त करने के लिए यह दृष्टिकोण [illegible] भी था। देव के छन्दों की प्रशंसा करते हुए भी उन्हें बिहारी की छाया बताना इसी मनोवृत्ति का परिचायक है[1]। वे देव को बिहारी का टीकाकार मानते हैं[2]। यह बिहारी के प्रति अनुचित पक्षपात और देव के प्रति अन्याय है। लेकिन इस काल में आलोचना के दृष्टिकोण में यह संकीर्णता थी। उसका अभाव दीन जी में भी नहीं है। निराधार और निरर्थक तुलना का कुछ रोग इन हिन्दी के आलोचकों को कुछ दिन तक सताता रहा। बिहारी और देव का झगड़ा और यह उद्देश्यविहीन तुलना का क्रम अधिक दिन तक नहीं चला। शुक्ल जी, बाबू श्यामसुन्दरदास आदि कतिपय आलोचकों और 'नागरी-प्रचारिणी' आदि पत्रिकाओं द्वारा आलोचना की विश्लेषणात्मक और समीचीन पद्धति का प्रसार प्रारम्भ हो गया। आलोचकों और पाठकों का ध्यान इस झगड़े से हटकर उधर आकृष्ट हो गया।

१- बिहारी और देव : लाला भगवानदीन, पृ०- ८३

२- वही, पृ०- ८५

चतुर्थ अध्याय

शुक्ल युग : रीतिकविता के मूल्यांकन में पाश्चात्य दृष्टि का विनियोग

(क) भारतीय काव्यशास्त्रीय दृष्टि का उपयोग

(अ) सामाजिक आदर्श की दृष्टि

(ब) मर्यादावादी दृष्टि

(ख) चिन्तामणि में भक्ति और रीतिकाव्य का पार्थक्य

(क) भारतीय काव्यशास्त्रीय दृष्टि का उपयोग

पाश्चात्य प्रभाव के फलस्वरूप जिस आलोचना- पद्धति का जन्म ईसा की वर्तमान शताब्दी के प्रारम्भ में हुआ था, शुक्ल जी के इस क्षेत्र में पदार्पण करने से पूर्व ही वह अपने जीवन- काल के प्राय: बीस- पच्चीस वर्ष बिता चुकी थी । इस बीच में मासिक, दैनिक एवं साप्ताहिक पत्र- पत्रिकाओं तथा स्वतन्त्र ग्रन्थों के रूप में आलोचना के पर्याप्त प्रयास हुए । ` मिश्रबन्धु- विनोद ` तथा ` हिन्दी नवरत्न ` जैसे बृहत्काय ग्रन्थ भी प्रकाशित हुए और ` वेणी संहार ` की आलोचना जैसी छोटी पुस्तिका भी । परन्तु सब आलोचना- पद्धतियों में विकास के तत्वों का अभाव था । आलोचक अन्धकार में आलोचना का मार्ग खोज रहा था, इसलिए वह कभी प्रशंसा को आलोचना समझता था तो कभी दोषदर्शन को[1]।

शुक्ल जी के पूर्व तक आलोचना का विकास इन्हीं अर्थों को आलोचना का प्रकृत स्वरूप मानकर चलता रहा । ये वस्तुत: हिन्दी आलोचना के अन्त:स्वरूप का विकास तथा हिन्दी- समीक्षा के विकास की विभिन्न अवस्थाएं अभिहित की जाती हैं । आलोचना का जो वास्तविक और आधुनिकतम अर्थ विश्लेषण विवेचन और निगमन पद्धति है, जिसमें आलोचक की तटस्थता का तत्व भी अन्तर्भूत है, उस समय अज्ञात था । इन अर्थों में पदार्पण करके समीक्षा की निश्चित पद्धति को जन्म देने का श्रेय आचार्य शुक्ल को ही है ।

१- हिन्दी आलोचना उद्भव और विकास : डा० भगवतस्वरूप मिश्र, पृ०-३२६

सत्य तो यह है कि इसके पूर्व हिन्दी समीक्षा अपनी प्रारम्भिक अवस्था में ही थी । उसमें वैयक्तिक रुचि का ही प्राधान्य था । अब तक रस तथा अलंकार आदि तत्वों के आधार पर ही काव्यों का विवेचन हुआ था[1]। काव्य के ये तत्व भारतीय साहित्य चिन्तन की अमूल्य देन है । आलोचक का ध्यान काव्य की आत्मा की ओर तो बिलकुल नहीं था । उस भाव-सौन्दर्य को देखने का प्रयत्न आलोचकों ने कभी नहीं किया, जिसके कारण कोई रचना सहृदयजन- श्लाघ्य बन जाती है । जिस तत्व की उपस्थिति से अलंकार आदि तत्वों का महत्व था, उसकी खोज इन आलोचकों ने नहीं की । यही कारण है कि शुक्ल जी ने हिन्दी के आधुनिक गद्य- साहित्य के द्वितीय उत्थान-काल तक की आलोचना को रूढ़िगत कहा है[2]। उनका कहना है कि इसमें कवि की विशेषताओं और अन्त:प्रवृत्ति की छानबीन की ओर ध्यान नहीं दिया गया[3]। उन्होंने रस,अलंकार आदि की नवीन और मनोवैज्ञानिक व्याख्या करके तथा उनको साहित्य- समीक्षा के आधुनिक मानदण्डों के अनुरूप प्रस्तुत करके इन तत्वों का जीर्णोद्धार कर दिया, —इन तत्वों में नवीन स्फूर्ति और नवजीवन फूंक दिया । शुक्ल जी ने इन नवीन व्याख्या में साहित्य और जीवन का सम्बन्ध स्थापित कर दिया और ` रस ` के अनुभूति- पक्ष के साथ ही सहृदय समाज पर पड़ने वाले प्रभाव का भी सूक्ष्म विवेचन किया । इस प्रकार उन्होंने उसे नवीन रूप देते हुए भी अभारतीय नहीं होने दिया[4]।

१- हिन्दी आलोचना : उद्भव और विकास : डा० भगवतस्वरूप मिश्र,पृ०- ३२७

२- हिन्दी साहित्य का इतिहास : आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, पृ०- ५२२

३- वही, पृ०- ५२३

४- हिन्दी आलोचना : उद्भव और विकास :डा० भगवतस्वरूप मिश्र,पृ०-३२८

शुक्ल जी के युग में भारतीय काव्यशास्त्र के अन्तर्गत समीक्षा की दो मुख्य दृष्टियां रहीं — प्रथम सामाजिक आदर्श की दृष्टि और दूसरी मर्यादावादी दृष्टि

(अ) सामाजिक आदर्श की दृष्टि :

ग्रियर्सन ने तुलसी के रामचरितमानस के काव्यगत महत्व की ओर भी ध्यान आकृष्ट कराया है। पर साहित्य और जीवन का सम्बन्ध स्पष्ट कर देने वाली आलोचना तो शुक्ल जी द्वारा सम्पादित 'तुलसी ग्रन्थावली' की भूमिका से ही प्रारम्भ नहीं कर सके। नागरी प्रचारिणी पत्रिका का ध्येय अनुसन्धानात्मक था। शुक्ल जी का उसमें पूरा सहयोग था। अब तक 'रामचरितमानस' आदि ग्रन्थों का आदर विशेषत: धर्म- ग्रन्थों के रूप में ही था, पर शुक्ल जी ने उन्हीं को काव्य के आदर्श ग्रन्थ मानकर उक्ति-चमत्कार द्वारा मनोरंजन ही नहीं अपितु रसास्वाद द्वारा लोकमंगल, हृदय-प्रसार और परिष्कार को काव्य का उद्देश्य माना। इस प्रकार तुलसीदास जी के 'रामचरितमानस' का प्रभाव शुक्ल जी के प्रतिमान पर बहुत अधिक पड़ा। अत: उसको मानसमय कहना ही समीचीन है। धर्म की रसात्मक अनुभूति को शुक्ल जी भक्ति मानते हैं[1]। शुक्ल जी राम-भक्ति को ही भक्ति का चरम आदर्श रूप मानते हैं। राम के जीवन का व्यवहार पक्ष मानव मात्र के लिए आदर्श है। उसमें सब धर्मों का समन्वय है, इसलिए वही जीवन का सर्वांगीण और विरोध शून्य स्वरूप है। उसके जीवन से व्यक्ति और समाज दोनों ही

१- गोस्वामी तुलसीदास : आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, पृ० - ५४

अपना आदर्श ग्रहण करते हैं। शुक्ल जी के लोक-धर्म में व्यक्ति और समाज का समन्वय है। व्यक्ति के स्वातन्त्र्य का अपहरण लोकधर्म नहीं है। समाज के अन्य कवियों की जीवन-धारा की स्वच्छन्द गति में लेश-मात्र भी बाधा न पहुंचाने वाली वैयक्तिक स्वतन्त्रता भी इस लोक-धर्म का एक अनिवार्य तत्व है। यह तभी सम्भव है जब इन दोनों में सामंजस्य स्थापित हो। शुक्ल जी लोकवाद का स्वरूप तुलसीदास जी के दृष्टिकोण को स्पष्ट करते हुए निरूपित करते हैं, पर उनके लोकवाद की भी मर्यादा है। उनका लोकवाद व्यक्ति व्यक्ति की स्वतन्त्रता का अपहरण नहीं चाहता, जिसमें व्यक्ति इच्छानुसार हाथ-पैर भी न हिला सके; अपने श्रम , श्रम-शक्ति और गुण का अपने लिए कोई फल ही न देख सके। शुक्ल जी व्यक्ति के आचरण पर इतना ही प्रतिबन्ध चाहते हैं जितने से दूसरों के जीवन-मार्ग में बाधा न पड़े और हृदय की उदात्त वृत्तियों के साथ लौकिक सम्बन्धों का सामंजस्य बना रहे[1]।

उपर्युक्त जिस लोकधर्म का निरूपण हुआ वह सामाजिक दृष्टि तो है[2]। शुक्ल जी सामाजिक आदर्श से जुड़े हुए थे। इसके लिये वे तुलसीदास के मानस का सहारा लेकर उसकी राह में चलने वाले थे। वे वर्णाश्रम-धर्म और लोक-मर्यादा के समर्थक थे। राम का चरित्र ही उनके लिए चरित्र का सर्वोत्कृष्ट आदर्श था। वे काव्य का उद्देश्य उसी आदर्श पर चरित्र विकास करना मानते थे। चरित्र और नैतिकता में राम का-सा आदर्श लेकर चलने वाले कवि ही उनकी दृष्टि में सर्वोत्कृष्ट हैं। वे इसमें आधुनिक नवीन सामाजिक आदर्श का बहुत-कुछ समावेश कर सके थे। पर अनैतिकता और चरित्रहीनता तक पहुंच जाने वाला व्यक्ति-स्वातन्त्र्य उन्हें न था।

लोकमंगल के सामंजस्य में व्यक्ति के शील का विकास, उसका रागात्मक प्रसार ही शुक्ल जी की नैतिकता तथा सामाजिक आदर्शवादिता सम्बन्धी धारणा का मुख्य आधार है[1]।

(ब) मर्यादावादी दृष्टि :

शुक्ल जी रस निष्पत्ति वाले स्थलों को ही काव्य मानते हैं। लेकिन उनकी दृष्टि के काव्य की उत्कृष्टता का आधार नैतिकता ही है। जो काव्य शील- विकास एवं हृदय- प्रसार का साधन है और कार्य- सौन्दर्य का व्यंजक है— उसी को शुक्ल जी उत्तम काव्य कहते हैं। शुक्ल जी शील- विकास को रस के उपभोग पक्ष की अपेक्षा अधिक महत्त्व देते हैं।

सम्पूर्ण मर्यादाओं का आकलन करते हुये भी भगवान राम का मर्यादावादी रूप है जिसमें तुलसी का मन रचा है। उस स्वरूप के साक्षात्कार एवं मूल्यांकन में भी शुक्ल जी का यह मर्यादावादी दृष्टिकोण प्राय: अक्षय ही रहा है। हां, शुक्ल जी का मर्यादावादी भक्ति के नाम पर विलासिता के अस्वस्थ प्रवाह को रोकने का शक्तिशाली साधन अवश्य है। इसमें काव्य और जीवन के समुचित सम्बन्ध और संतुलन को बनाये रखने की दृढ़ता है[2]।

भक्ति और सहृदयता के उस स्तर के व्यक्तियों के लिए विलासिता और अमर्यादा में बह जाने का भय ही नहीं रहता है, यह काव्य द्वारा ही अधिक सम्भव है। इसी लिए शुक्ल जी मुक्तक की अपेक्षा प्रबन्ध को उत्कृष्ट

१-२ हिन्दी आलोचना : उद्भव और विकास : भगवतस्वरूप मिश्र, पृ० ४०३-४०४, ३६०क्रमश:

कहते हैं। लेकिन मुक्तक काव्य को शुक्ल जी नितान्त उपेक्षा नहीं करते हैं। सूर के मुक्तक पदों के काव्य-सौन्दर्य की वे मुक्तकण्ठ से प्रशंसा करते हैं। पर इस विधा के साथ पूरा न्याय कर पाये हैं, यह नहीं कहा जा सकता है[1]।

शुक्ल जी काव्य को मनोरंजन का साधन नहीं मानते थे उनके मत में तो काव्य के गौरव को कम कर देना मात्र है[2]। वे सहृदय की अवहेलना करके 'स्वान्त:सुखाय' रचना करने के समर्थक नहीं हैं। शुक्ल जी काव्यानुभूति अथवा रसानुभूति के अलौकिक का तात्पर्य भी वैयक्तिक राग-द्वेष और योग-क्षेम से ऊपर उठा हुआ ही मानते हैं[3]।

रीतिकाव्य के स्वरूप के सम्बन्ध में उनकी तीन मान्यताएं थीं।

(१) रीतियुग के कवियों में शास्त्रीयता या शास्त्रनिष्ठ प्रतिभा का अभाव था।

(२) रीति कवियों ने प्रकृति की अनेक रूपता जीवन की भिन्न-भिन्न बातों तथा जगत के नाना रहस्यों पर दृष्टि नहीं डाली।

(३) व्याकरणोचित भाषा और शब्दों के औचित्यपूर्ण प्रयोगों के प्रति ये कविगण प्राय: उदासीन थे।

रीतिकाव्य के स्वरूप का विवेचन करते समय आचार्य प्रवर ने जहां उक्त दोषों और खटकने वाले तथ्यों का उल्लेख किया है, वहीं रीतिकाव्य की

१- हिन्दी आलोचना : उद्भव और विकास : भगवतस्वरूप मिश्र, पृ०- ३६०

२- चिन्तामणि : आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, पृ०- २२३ (प्रथम भाग)

३- हिन्दी आलोचना उद्भव और विकास : भगवतस्वरूप मिश्र, पृ०- ३३२

सरसता, उक्तिगत भंगिमा, भाषा की लाक्षणिकता और श्रृंगार की कोमल भाव-व्यंजना की उन्होंने पदे-पदे सराहना भी की है। किन्तु शुक्ल जी के लगाए गए उक्त आक्षेपों पर यदि फिर से विचार किया जाय तो लगेगा कि उन्होंने जिस कसौटी पर कसकर ऐसे निष्कर्ष निकाले हैं, वह कसौटी बहुत कुछ ठीक है, परन्तु दूसरी कसौटी पर कसकर जब अन्य निष्कर्ष निकाले जाते हैं तो वही शुक्ल जी की मान्यताएं बहुत कमजोर और लचर प्रतीत होती हैं[1]। शुक्ल जी शीघ्र किसी बात को सरलता से स्वीकार नहीं करते थे क्योंकि उनका अध्ययन-अनुशीलन इतना अधिक था, कि लोग उनके अमोघ तर्क-बाणों के सामने प्राय: ठहर नहीं पाते थे। इसी से आचार्य केशवदास को कवि-पंक्ति में बैठाते आज के आलोचक सकुचाते हैं क्योंकि आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने बहुत पहले उन्हें हृदयहीनता घोषित करके एक सहृदय कवि की मण्डली से बहिष्कृत कर दिया था। आचार्य शुक्ल जी ने रीतिकवियों में एक शास्त्रनिष्ठ प्रतिभा का अभाव देखकर ही कहा कि इन्हें कवि ही मानना चाहिए, ये आचार्य नहीं थे। उन्होंने केशव-भिखारीदास और भूषण जैसे रीति आचार्यों द्वारा विवेचित काव्यशास्त्रीय मतों को बहुत पुष्ट और प्रमाणसिद्ध नहीं माना। यथा, शब्दशक्ति विवेचन के सन्दर्भ में आचार्य दास पर विचार करते हुए उन्होंने लिखा— "शब्द-शक्ति का विषय दास ने थोड़ा-सा लिया है, पर उससे उसका कुछ भी बोध नहीं हो सकता। 'उपादान लक्षणा' का लक्षण भी विलक्षण है और उदाहरण भी असंगत। उदाहरण से साफ झलकता है कि

1- रीतिकाव्य विषयक मान्यताएं : डा० किशोरीलाल
—लेख 'एकेडमी पत्रिका' 'शुक्लविशेषांक'

लक्षणा का स्वरूप ही समझने में भ्रम हुआ है[1]। अब विचारणीय विषय है कि क्या सचमुच आचार्य दास ने `उपादान- लक्षणा` का परिभाषा और उदाहरण देने में गलती की है अथवा आचार्य शुक्ल जी की ही मेधा भ्रमित है ? आचार्य दास ने काव्य निर्णय में `उपादान लक्षणा` की जो परिभाषा और उदाहरण दिया है यह इस प्रकार है—

उपादन सो लक्षणा, परगुन लीन्हे होइ।
कुंत चलत सब जग कहै, नर बिनु चलै न सोइ[2] ।। २८ ।।

आचार्य दास ने यह लक्षण और परिभाषा आचार्य मम्मट कृत `काव्य-प्रकाश` से ग्रहण किया है। अब मम्मट द्वारा प्रस्तुत `उपादान लक्षणा` की परिभाषा नीचे दी जा रही है जिससे दोनों अंशों के समझने में किसी प्रकार की कठिनाई न हो—

स्वसिद्धऽयेपराक्षेप: परार्थं स्वसमर्पणम् ।
उपादानं लक्षनं चे त्युक्ता शुद्धेव सा द्विधा ।। १० ।।

अर्थात् शुद्ध लक्षणा दो प्रकार की भी होती है। एक नाम उपादान लक्षणा और दूसरी का लक्षण लक्षणा है। उपादान लक्षणा है जो अपनी सिद्धि के लिये और का आक्षेप ग्रहण कर ले। लक्षण लक्षणा उसे कहते हैं जहां पर कोई शब्द अन्य अर्थ की सिद्ध के लिए अपने को समर्पण कर दे। `कुन्ता: प्रविशन्ति,` `याष्टया प्रविशन्ति` इत्यादी, अर्थात् भाते घुस रहे हैं और

१- हिन्दी साहित्य का इतिहास : पृ० - २३६, संवत् २००३ का संस्करण
२- भिखारीदास ग्रन्थावली (काव्यनिर्णय) : आचार्य विश्वनाथप्रसाद मिश्र, पृ० -१०

लाठियां पैठ रही हैं[1]।

इन दोनों अंशों को देखने से स्पष्ट प्रतीत होता है कि आचार्य केशवदास ने मम्मट के `उपादान लक्षणा` विषयक लक्षण के अन्तर्गत मात्र `स्वसिद्धये` शब्द को ग्रहण नहीं किया और सभी बातें मम्मट से पूर्णतया मेल खाती है, फिर आचार्य शुक्ल जी को दास की यह परिभाषा और उदाहरण असंगत कैसे प्रतीत हुआ[2]? `कुन्त चलत और कुन्ताः प्रविशन्ति` में क्या असंगति है` स्पष्ट नहीं है। संस्कृत के आचार्यों का उल्लेख करते हुए शुक्ल जी ने बताया कि जिस प्रकार शास्त्रीय विवेचना और सूक्ष्म पर्यालोचना की शक्ति उनमें थी, वह हिन्दी आचार्यों में विरल है। लेकिन वहां यह भी सत्य है कि स्वयं संस्कृत के काव्यशास्त्रीय विवेचन एक-दूसरे से सहमत नहीं थे और पूर्ववर्ती आचार्यों की समीक्षा परवर्ती आचार्यों द्वारा सम्यक् रूपेण की जाती रही। यही नहीं, व्याख्या और कारिका द्वारा भी जिन सिद्धान्तों का सम्यक् स्फुरण और विकास नहीं हो सका तथा जो सिद्धान्त निर्विवाद ग्रहण नहीं किए जा सके, वहां हिन्दी आचार्यों की विवेचना-शक्ति पर अपूर्णता, अपरिपक्वता आदि का दोषारोपण कहां तक समीचीन है? आचार्य शुक्ल जी ने हिन्दी आचार्यों को न तो व्याख्याता आचार्य माना है न नवीन उद्भावक, पर आचार्य दास ने जहां तुक-निर्णय का एक वैज्ञानिक वर्गीकरण प्रस्तुत किया और तद्विषयक नूतन और संस्कृत काव्यशास्त्रीय परम्परा से भिन्न परिपाटी का उद्घोष किया, वहां वे मौन

१- काव्यप्रकाश(द्वितीयउल्लास) :टीका० हरिमंगल मिश्र, पृ०- १९७

२- रीतिकाव्य विषयक मान्यताएं :डा० किशोरीलाल,लेख-एकेडमी पत्रिका `शुक्ल विशेषांक`

क्यों है ? और आश्चर्य यह भी है कि अपने इतिहास में शुक्ल जी ने इसकी चर्चा भी नहीं की सत्य तो यह है कि संस्कृत में 'ध्वनि-सिद्धान्त' इतना जमकर बैठ गया है कि उसके समक्ष अन्य सिद्धान्त कम ठहर सके, पर हिन्दी आचार्यों ने रसशास्त्र को मान्यता दी और ध्वनिशास्त्र को उसकी तुलना में स्वीकार नहीं किया। स्वयं देव रस-सिद्धान्त के प्रबल पोषक थे और रामसिंह ने रस को आधार बनाकर उत्तम, मध्यम और गम्भीरता से विचार किया तो स्पष्ट प्रतीत होता कि जितना रस का, विशेषतया श्रृंगार का, उपबृंहण इस युग में हुआ वह शायद संस्कृत में भी नहीं हुआ[1]। अब आवश्यकता इस बात की है कि हिन्दी रीतिशास्त्र का मूल्यांकन पूर्णतया संस्कृत काव्यशास्त्र को आधार बनाकर न किया जाय, उसे हिन्दी की दृष्टि से यदि देखा जाय तो उसकी उपलब्धियों पर हम न्याय-संगत दृष्टि से विचार कर सकेंगे। और उनके सम्बन्ध में लगाये गये आक्षेपों को भी संतुलित ढंग से समझ सकेंगे। रीतिकाव्य को शुक्ल जी बहुत उच्चकोटि का काव्य नहीं मानते थे[2]। जिसका वर्णन हमने पहले ही कर दिया है कि शुक्ल जी की दृष्टि पाश्चात्य भारतीय काव्यशास्त्रीय दृष्टि थी जिसमें शुक्ल जी सामाजिक आदर्श और मर्यादा आदि दृष्टि को आलोचना प्रक्रिया का मुख्य आधार बनाकर चलते थे। उनकी दृष्टि काव्य में लोकमंगल विधायक तत्वों तक इस प्रकार संपिठित हो गई थी कि वे विशुद्ध काव्यात्मक धरातल को स्पर्श कर रही जाने

१- रीतिकाव्य विषयक मान्यताएं : डा० किशोरीलाल, 'लेख—एकेडमी पत्रिका शुक्ल विशेषांक'

२- वही,

वाली रचना को उदात्त काव्य नहीं मानते थे। उन्होंने आनन्द-मंगल तत्व के आधार पर काव्य के दो स्वरूप- आनन्द की साधनावस्था तथा आनन्द की सिद्धावस्था को स्वीकार करते थे। जिसका वर्णन हमने आगे ` चिन्तामणि ` में भक्ति और रीति कविता के पार्थक्य में किया है।

आचार्य शुक्ल जी का अगला आक्षेप कवियों की भाषा के सम्बन्ध में है। उनकी मान्यता है कि रीतियुग की भाषा का स्वरूप स्थिर न था। व्याकरणानुमोदित शब्दों के प्रयोगों की दृष्टि से यह भाषा अत्यन्त चिन्तनीय है। उनके अनुसार रीतिकाल तक भाषा को साहित्यिक भावाभिव्यक्ति में पूर्ण समर्थ हो जाना चाहिए था परन्तु अपने अनगढ़ और ` भद्दे से ` प्रयोगों के कारण रीतिकाल की भाषा बहुत आदर्श या मानक भाषा का रूप ग्रहण नहीं कर सकी। फलतः भूषण, देव और पद्माकर जैसे कवियों की भाषा में शिथिल पद-विन्यास और भारती के शब्दों के कारण काव्य का प्रसादता के साथ ही उसका सहज लावण्य अर्थवत्ता और चित्रमयता जैसे गुण खो गया है। पर शुक्ल जी की रीतिकाव्य भाषा के सम्बन्ध में यह मान्यता बहुत ठीक नहीं प्रतीत होती। क्योंकि प्राकृत से लेकर अपभ्रंश तक भाषा का जैसा रूप रिक्थ रूप में इन कवियों को मिला था, उसके अनुसार भाषा उत्तरोत्तर विकासोन्मुख रहित शब्दों के तोड़-मरोड़ की प्रवृत्तियां प्रायः अपभ्रंश से ही चली आई है, फिर रीतियुग की अतिशय अनुप्रासप्रियता के साथ ही भाषा की असाधारण अलंकृति भी इसका कारण बनी। किन्तु आचार्य शुक्ल जी रह-रहकर देव और पद्माकर के नांद-झंकार

से ऊबे हुए थे। वस्तुत: भाषा की दृष्टि से शुक्ल जी के ही युग के कृष्णबिहारी मिश्र और मिश्रबन्धु जैसे आलोचक पृथक विचार रखते थे। ऐसे रीतिकाव्यालोचक भाषा में नाद-सौन्दर्य को उसका एक अपरिहार्य गुण और तत्व मानते थे। आदर्श भाषा की दृष्टि से आचार्य शुक्ल जी के बाद घनानन्द, बिहारी और ठाकुर तथा द्विजदेव को अधिक महत्व देते थे[१]।

रीतिकाव्य के सन्दर्भ में शुक्ल जी की सभी मान्यताएं युगों से अपनी जगह ठीक होने पर भी आज मूल्यांकन की दृष्टि बदल जाने पर बहुत सशक्त नहीं होती।

१- रीतिकाव्य - विषयक मान्यताएं : डा० किशोरीलाल
लेख— एकेडेमी पत्रिका, शुक्ल विशेषांक

(ख) `चिन्तामणि ` में भक्ति और रीति कविता का पार्थक्य

शुक्ल जी के निबन्ध संग्रह ` चिन्तामणि ` के अन्तर्गत भक्ति और रीति कविता दोनों का मुख्य रूप से पार्थक्य लक्षित होता है। वास्तव में शुक्ल जी ने काव्य को दृष्टि में रखकर इस आनन्द मंगल तत्व के आधार पर काव्य को दो श्रेणियों में विभाजित किया।

(१) आनन्द की साधनावस्था या प्रयत्न- पक्ष को लेकर चलने वाले

(२) आनन्द की सिद्धावस्था या उपभोग पक्ष को लेकर चलने वाले

आनन्द के साधनावस्था के अन्तर्गत उन्होंने हिन्दी में रामचरितमानस, पद्मावत, हम्मीररासो, पृथ्वीराज रासो आदि प्रबन्ध- काव्यों को माना है। आनन्द की सिद्धावस्था या उपभोग पक्ष की दृष्टि से सूरसागर आदि कृष्णकाव्य साथ समस्त रीति काव्य की गणना की है। इससे सिद्ध हो जाता है कि शुक्ल जी ने तुलसी जैसे भावुक, संवेदनशील और जीवन-जगत् के नाना रूपों के साथ रमने वाले कवियों को जितना महत्व दिया, उतना शृंगार की कोमल- तरल अनुभूतियों को काव्य के चित्र- फलक पर सूक्ष्म रूपेण रेखांकित करने वाले कवियों को नहीं, पर पद्माकर, घनानन्द, ठाकुर और मतिराम आदि की काव्य समीक्षा को देखने से स्पष्ट हो जाता है कि आचार्य शुक्ल जी यत्र- तत्र रचनागत सौष्ठव और उसकी प्रभविष्णुता से अपने को बचा नहीं सके। यथा- ठाकुर कवि के सम्बन्ध में शुक्ल जी का अभिमत है— ` ठाकुर बहुत ही सच्ची उमंग के कवि थे। इनमें कृत्रिमता का लेश नहीं। न तो कहीं व्यर्थ का शब्दाडम्बर है, न कल्पना की झूठी उड़ान और न अनुभूति के विरुद्ध भावों

का उत्कर्ष लगता है कि रीतियुग के उन शृंगारिक मुक्तकों की शुक्ल जी श्लाघा नहीं करते थे जो ऊहा के बल पर मजमून बांधने की हौसला रखते थे। इसी से देव की उन्होंने ज्यादा प्रशंसा नहीं की। वे वस्तु व्यंजना के साथ ही उनकी सहज अभिव्यंजना पर लट्टू थे। रीतिबद्ध पद्माकर की भावमूर्ति विधायिनी कल्पना के वे मुक्त कण्ठ से प्रशंसक थे। यही नहीं अपने निबन्धों में आचार्य शुक्ल जी ने रीतियुग के सरस और मादक छन्दों को यथा प्रसंग उद्धृत भी किया है। काव्य में रसमग्नता की शक्ति के वे इतने कायल थे कि उच्च से उच्च कोटि के काव्य से भी यदि उक्त गुणों का अभाव होता था तो उसे स्वीकारने में वे हिचकिचाते थे। इसका मूल कारण यह था कि जीवन की समग्रता की अभिव्यक्ति के साथ-साथ रसानुभूति की धारा को अखण्डता से प्रवाहित करने वाले रामचरितमानस जैसे प्रबन्धकाव्य में शुक्ल जी ने गहरी डुबकियां लगायी थीं, अतः शृंगारिक मुक्तकों को जिसमें रस की छींटें ही दृष्टिगत होता है, शुक्ल जी ने श्रेष्ठ नहीं माना। उनका मानस रह-रहकर उसी को ढूंढ़ा करता था और उसके न मिलने पर वे खीझ जाते थे। तिलमिला जाते थे और कहीं-कहीं अपनी व्यंग्य-गर्भित शैली में रीतियुग के मुक्तक शृंगारिक कवियों की खोज-खबर इस प्रकार लेते थे— "हिन्दी के रीतिकाव्य के कवि तो मानों राजाओं-महाराजाओं की कामवासना उत्तेजित करने के लिये रखे जाते थे। एक प्रकार के कविराज तो रईसों को मुंह में मकरध्वज झोंकते थे, दूसरे प्रकार के कविराज कान में मकरध्वज रस की पिचकारी देते थे[1]।"

शुक्ल जी रसवादी आचार्य हैं, वे काव्य का उद्देश्य चमत्कार और

मनोरंजन नहीं अपितु सहृदय को सहानुभूति में तल्लीन कर देना ही काव्य का चरम लक्ष्य मानते हैं[1]। शुक्ल जी ने बिहारी और रीतिकालीन अधिकांश कवियों की रचनाओं को ऐसे उक्ति- चमत्कार, अनूठेपन के कारण सूक्ति अथवा काव्याभास मात्र माना है। केशव को कवित्व का अभाव बताने का भी यही कारण है। सूर और तुलसी को कवियों के आदर्श मानने में भी शुक्ल जी का यही दृष्टिकोण कार्य कर रहा है[2]।

शुक्ल जी काव्य के उक्ति चमत्कार के विषय में अपनी धारणा बतलाते हुए कहते हैं— जिसके अन्तर्गत वर्ण- विन्यास की विशेषता (जैसे अनुप्रास में) शब्दों की क्रीड़ा (जैसे श्लेष, यमक आदि में) वाक्य की वक्रता या वचनभंगिमा (जैसे काव्यार्थोत्पत्ति, परिसंख्या, विरोधाभास, असंगति आदि में) तथा अप्रस्तुत वस्तुओं का अद्‌भुतत्व अथवा प्रस्तुत वस्तुओं के साथ उनके सादृश्य या सम्बन्ध की अनहोनी या दुरारूढ़ कल्पना (उत्प्रेक्षा, अतिशयोक्ति आदि में) इत्यादि बातें आती हैं[3]। इस प्रकार शुक्ल जी चमत्कार से केवल उक्ति- वैचित्र्य को ही भाव ग्रहण करते हैं। यही उनका वक्रता से तात्पर्य है[4]। ' गोस्वामी तुलसीदास नामक पुस्तक में भी उन्होंने वैचित्र्य का यही स्वरूप माना है। इस उक्ति वैचित्र्य को शुक्ल जी काव्य के नित्य स्वरूप के अन्तर्गत नहीं हैं, एक अतिरिक्त गुण है जिससे मनोरंजन

१- हिन्दी आलोचना : उद्‌भव और विकास : डा० भगवतस्वरूप मिश्र, ३३७-३३८

२- वही, पृ०- ३३८

३- चिन्तामणि : आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, पृ०- १८१

४- गोस्वामी तुलसीदास : आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, पृ०- १८१

की मात्रा बढ़ जाती है। इसके बिना भी तन्मय करने वाली कविता बराबर हुई है, और होती है[1] भावना को गोचर और सजीव रूप देने के लिए भाव की विमुक्त और स्वच्छन्द गति के लिए काव्य में वक्रता या वैचित्र्य अत्यन्त प्रयोजनीय वस्तु है, इसमें कोई सन्देह नहीं[2]। शुक्ल जी वक्रता के प्रयोजनीय रूप के अतिरिक्त इसके उस स्वरूप की भी अवहेलना नहीं करते हैं जो काव्य की अभिव्यक्ति का अनिवार्य अंग है। काव्य की भाषा साधारण बोलचाल की भाषा से भिन्न होती है। काव्य की उक्ति में साधारण उक्ति से अन्तर रहता है, इस सत्य को संस्कृत के प्राचीन आचार्य बहुत पहले ही स्वीकार कर चुके हैं[3]। शुक्ल जी महत्वपूर्ण काव्य के महत्वपूर्ण अंग की उपेक्षा नहीं कर सकते हैं। अगर एक तरफ केवल बौद्धिक चमत्कार वाली उक्तियों के काव्यत्व को वे अस्वीकार करते हैं तो दूसरी ओर यह भी स्वीकार करते हैं कि उमड़ते हुए भाव की प्रेरणा से अक्सर कथन के ढंग में कुछ वक्रता आ जाती है। ऐसी वक्रता काव्य की प्रेरणा के भीतर रहती है[4]। कवि अपने हृदय की भावानुभूति पाठक में भी उत्पन्न करना चाहता है, इसलिए उसे इस वक्रता का उपयोग करना ही पड़ता है[5]। इससे काव्य में मार्मिकता की वृद्धि होती है। भावुक कवि भी अपनी अनुभूति को तीव्र करने के लिए वक्रता का उपयोग करते हैं। यह उपयोग इनके लिए आवश्यक भी हो जाता है। "जिस रूप या जिस मात्रा में भाव की स्थिति है उसी रूप और मात्रा में उनकी व्यंजना के लिए प्राय:

१- काव्य में रहस्यवाद : पृ०-४१
२- इन्दौर वाला भाषण : पृ०-८६
३- हिन्दी आलोचना:उद्भव और विकास :डा० भगवतस्वरूप मिश्र, पृ०-३४०
४- चिन्तामणि : आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, पृ०- २३६

कवियों को व्यंजना का कुछ असामान्य ढंग पकड़ना पड़ता है[१]।" उनके मत में भाव और वस्तु दोनों की व्यंजना में अनूठापन सम्भव है। शुक्ल जी ने इन्हीं को क्रमशः भाव पक्ष और विभाव पक्ष का अनूठापन कहा है[२]। शुक्ल की विचारों की समन्वयवादी धारा अत्यन्त स्पष्ट है। उनके चमत्कार या वक्रता सम्बन्धी विचारों में भी इस दृष्टि से पूर्ण सामंजस्य है। शुक्ल जी इस दृष्टि से ही वक्रता के औचित्य पर विचार करते हैं। वचन की जो वक्रता भाव प्रेरित होती है वही काव्य होती है[३]। ऐसी वस्तु व्यंजना जिसकी तह में कोई भाव न हो चाहे कितनी ही अनूठे ढंग से की गई हो, चाहे उसमें कितना ही लाक्षणिक चमत्कार हो, प्रकृति कविता न होगी, सूक्ति मात्र होगी[४]। शुक्ल जी ने बिहारी के विभाव पक्ष में कहीं-कहीं औचित्य की सीमा का उल्लंघन माना है" पत्रा ही तिथि पाइये" जैसी उक्तियों को शुक्ल जी काव्य की दृष्टि से बहुत कम महत्व मानते हैं[५]। वे कहते हैं" ऐसी उक्तियों में कुछ तो शब्द की लक्षणा, व्यंजना शक्ति का आश्रय लिया जाता है और कुछ काव्य पर्यायोक्ति ऐसे अलंकारों का[६]।" उन्होंने शब्द-शक्ति और अलंकार दोनों ही को उक्ति चमत्कार के साधन कहा है। इस प्रकार वक्रता या चमत्कार सम्बन्धी शुक्ल जी के विचारों में समन्वय है।

१- चिन्तामणि : आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, पृ० - २३०

२- काव्य में रहस्यवाद : पृ० - ७१

३- भ्रमरगीतसार की भूमिका : आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, पृ० - ६०

४- काव्य में रहस्यवाद : पृ० - ७२

५- हिन्दी साहित्य का इतिहास : आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, पृ० - २३६

शुक्ल जी ने वर्णन के विशेष प्रकार को ही अलंकार माना है[1]। इस सम्बन्ध में वे कहते हैं कि मैं अलंकार को वर्णन प्रणाली मात्र मानता हूं,जिसके अन्तर्गत किसी - किसी वस्तु का वर्णन किया जा सकता है। वस्तु- निर्देश अलंकार का काम नहीं है[2]। वे इनका उपयोग भी भाव- सौन्दर्य की सृष्टि करने में ही मानते हैं : " भावों का उत्कर्ष दिखाने और वस्तुओं के रूप- गुण और क्रिया का अधिक तीव्र अनुभव कराने में कभी- कभी सहायक होने वाली उक्ति या भाव के उत्कर्ष करने के साधन मात्र हैं[3]।" कविता में अलंकारों को साध्य मानने से उसका स्वरूप ही विकृत हो जाता है। शुक्ल जी के अनुसार—" पुरानी कविता में ऐसा ही हुआ है[4]। " केशव का काव्य इसका प्रमाण है : " है शोणित कलित कपाल यह किंवा कापालिक काल को। या मनहुं कर्मेत्यक पीठि पै घर योगोल घंटा लसत " में प्रस्तुत सौन्दर्य की वृद्धि करने के लिए कुछ भी नहीं है। यह केवल दूर की सूझ है।

शुक्ल जी मनोरंजन अथवा आनन्द को काव्य का परम लक्ष्य मानने के विरोधी हैं। यह पहले ही हम बता चुके हैं। आगे शुक्ल जी रस दशा को हृदय की मुक्तावस्था कहते हैं और इसे ज्ञान- दशा के समकक्ष मानते हैं। हृदय की इसी मुक्ति की साधना के लिए मनुष्य की वाणी जो शब्द-विधान करती आई है उसे कविता कहते हैं। इसी साधना को हम भाव- योग कहते हैं और इसको कर्मयोग का समकक्ष मानते हैं। जीवन का भी अन्य साधनाओं से

१- चिन्तामणि : पृ० - ४७, एवं गोस्वामी तुलसीदास : पृ० - १६१

२- काव्य में प्राकृतिक दृश्य :

३- गोस्वामी तुलसीदास : पृ० - १६१

जिसका सम्बन्ध दर्शन से है, मानव जिन उच्च अवस्थाओं को पहुंचता है, उन्हीं के समकक्ष भावयोग और हृदय की मुक्तावस्था को रखकर शुक्ल जी ने काव्य को भी उपनिषद् आदि के समान ही महत्व प्रदान कर दिया है। शुक्ल जी कहते हैं कि " कविता ही मनुष्य के हृदय को स्वार्थ - सम्बन्धों के संकुचित मण्डल से ऊपर उठाकर लोक-सामान्य भावभूमि पर ले जाती है। इस भूमि पर पहुंचे हुए मनुष्य को कुछ काल के लिए अपना पता नहीं रहता। वह अपनी सत्ता को लोक-सत्ता में लीन किये रहता है[1]। शुक्ल जी ने काव्यानुभूति और लौकिक अनुभूति के अन्तर का भी यही आधार माना है। लौकिक अनुभूति व्यक्तिगत स्वार्थों से बद्ध रहती है और काव्यानुभूति उनसे मुक्त।

शुक्ल जी ने चिन्तामणि के अन्तर्गत भक्ति और रीतिकाव्य का पार्थक्य स्पष्ट किया है क्योंकि शुक्ल जी के मान पर लोक मर्यादा, नीति, सेव्य- भाव की भक्ति, जीवन के व्यापक स्वरूप का चित्रण, शक्तिशील और सौन्दर्य के समन्वय का आग्रह इन सबकी स्पष्ट छाप है। ये उनके मान के विशेष तत्व हैं। जैसे रूपात्मक समीक्षा में शुक्ल जी को प्रबन्ध काव्यत्व श्रेष्ठता का आधार प्रतीत होता है, वैसे उद्देश्य सम्बन्धी समीक्षा में उपर्युक्त तत्वों में शुक्ल जी के व्यक्तित्व के स्पष्ट दर्शन होते हैं। पर वे उन्हें तुलसी की रचना से ही प्राप्त हुए हैं। तुलसी का काव्य, जीवन चरित्र और भक्ति सम्बन्धी दृष्टिकोण प्रधानतः यही है। शुक्ल जी का भी ये विचार वहीं से प्राप्त हुए हैं। इसलिए यह कहना अनुचित नहीं है कि शुक्ल जी का प्रतिमान तुलसी की रचना से स्वतः निकल रहा है अथवा उनकी रचना के उपयुक्त है।

१- चिन्तामणि : आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, पृ०- १६३

लेकिन सूर, जायसी तथा रीतिकालीन और आधुनिक छायावादी कवियों के लिये यह मानदण्ड आरोपित ही माना जाएगा ।

हिन्दी का आधुनिक साहित्यशास्त्र अभी निर्मित नहीं हुआ है । तत्व उसके इधर-उधर बिखरे पड़े हैं । शुक्ल जी ने उसका शिलान्यास कर दिया है । रस के अनुभूति एवं प्रभाव पक्ष के समन्वित रूप पर ही उसका महल खड़ा हो सकता है । काव्य केवल, `रसबोध` मात्र नहीं है, वह जीवन का निर्णायक भी है । इसी समन्वय पर हिन्दी के साहित्यशास्त्र की नींव पड़ती है । इसके पुष्ट आधार शुक्ल जी ने दिया है जिनका उनके परवर्ती काल में विकास हुआ है । इस प्रकार समीक्षा के मानदण्ड, शास्त्र एवं पद्धति तीनों ही दृष्टियों से शुक्ल जी का हिन्दी समीक्षा के इतिहास में नवीन युग के प्रवर्तक के रूप में महत्व है ।

शास्त्रीय तत्वों को समीक्षा का आधार-भूत मानकर चलने के कारण इस कोटि के समालोचकों में काव्य के भेदोपभेदों के निरूपण की प्रवृत्ति के दर्शन होते हैं । संस्कृत के प्राचीन आचार्यों की तरह ये भी प्रत्येक विधा के सूक्ष्म भेद करके चलना चाहते हैं । गीतिकाव्य, निबन्ध, कहानी आदि के अनेक अवान्तर भेद स्वीकृत हुए हैं, और उनको आधार मानकर आलोचना भी हुई है । इन पद्धतियों का आलोचक प्रत्येक रचना को किसी-न-किसी वर्ग अथवा उसके उपभेद में रख देनाचाहता है और उसी के अनुसार कला-कृति की सफलता अथवा असफलता आंकता है । इन भेदोपभेदों की प्रवृत्ति से डा० रामकुमार वर्मा, डा० श्रीकृष्ण लाल, पं० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र जैसे सधे हुए और साहित्य मर्मज्ञ समालोचक भी मुक्त नहीं रह सके हैं । डा० श्रीकृष्णलाल ने गीतिकाव्य

के पांच भेद किये हैं व्यंग्य गीत आदि[1]। शुक्ल जी में उत्कृष्ट काव्यरसज्ञता थी — पर उनके अनुगामी आलोचकों में से बहुत कम इतनी उत्कृष्ट काव्यरसज्ञता का परिचय दे सके ।

शुक्लयुग के मुख्य आलोचक बाबू श्यामसुन्दरदास :

शास्त्रीय पद्धति के सबसे प्रधान, समर्थ एवं प्रौढ़ समालोचक बाबू श्यामसुन्दर दास जी हैं। बाबू जी ने समीक्षा के क्षेत्र में उस समय कार्य प्रारम्भ किया था जब हिन्दी में आधुनिक साहित्य - समीक्षा- पद्धति का वास्तविक जन्म हो ही रहा था। उसी समय से `नागरी प्रचारिणी पत्रिका` द्वारा वे साहित्य की सेवा करते रहे। प्राचीन ग्रन्थों की शोध तथा उनका सम्पादन उनकी आलोचनात्मक भूमिकाएं इतिहास आदि आपके प्रधान कार्य- क्षेत्र रहे। हिन्दी में इस क्षेत्र की उद्भावना का क्षेत्र भी बाबू जी को ही है[2]।

प्रयोगात्मक समीक्षा में बाबू जी शुक्ल पद्धति के ही समीक्षक हैं। परन्तु बाबू जी इस क्षेत्र में किसी नवीन शैली की उद्भावना नहीं कर सके। पर `साहित्यालोचन` `रूपक रहस्य` जैसे ग्रन्थों का निर्माण करके उन्होंने शुक्ल- पद्धति के सैद्धान्तिक आधार के निर्माण में महत्वपूर्ण सहयोग दिया है, इसे भी भुलाया नहीं जा सकता। साहित्यालोचन आधुनिक काल का सर्वप्रथम

१- आधुनिक हिन्दी साहित्य का इतिहास

२- हिन्दी आलोचना:उद्भव और विकास :डा० भगवतस्वरूप मिश्र, पृ०- ४१६

सर्वांगीण सिद्धान्त ग्रन्थ है, जिसमें दोनों पद्धतियों के मिश्रण से समीक्षा को ठोस आधार दिया है।

बाबू जी ने शुक्ल जी के शुक्ल पद्धति में प्रौढ़ समालोचना की है। कवियों का प्रामाणिक जीवन उपस्थित करने में तो आप हिन्दी क्षेत्र में अद्वितीय हैं। कवियों के जीवन सम्बन्धी लेख नागरी प्रचारिणी पत्रिका में द्विवेदी काल के प्रारम्भ से ही प्रकाशित होने लगे थे। समालोचना— क्षेत्र में यह कार्य बहुत महत्वपूर्ण है। शुक्ल पद्धति की प्राय: सभी समीक्षाएं वस्तु-तन्त्रात्मक हैं। बाबू जी की समीक्षा में तो यह तत्व बहुत अधिक प्रबल है। बाबूजी के विचारों और शैली से अत्यधिक प्रभावित हैं पर सर्वत्र उनके निर्णय से सहमत नहीं। कई स्थानों पर उन्होंने शुक्ल जी के विचारों का खण्डन किया है। उन्होंने शुक्ल जी के साधारणीकरण की शास्त्रीयता, रस की लौकिकता, कला सम्बन्धी दृष्टि आदि कई बातें मान्य नहीं। कबीर के रहस्यवाद एवं उनकी दार्शनिक विचारधारा के सम्बन्ध में भी ये दोनों एकमत नहीं। अनेक स्थानों पर बाबू जी का मत अधिक शास्त्र-सम्मत भी माना जा सकता है। शुक्ल जी में व्यक्तिगत रुचि तथा नैतिकता का अधिक आग्रह स्पष्ट है। पर बाबू जी की समीक्षा काव्य की विशुद्ध दृष्टि के कहीं-कहीं अधिक समीप है। उसमें शुक्ल जी की सी मौलिकता, प्रखरता एवं सहृदयता का तो अभाव है। पर वैज्ञानिकता और वस्तु- तन्त्रात्मकता तो अधिक ही है। कबीर के इस विवेचन में बाबू जी का मौलिक एवं प्रौढ़ चिन्तन अत्यन्त स्पष्ट है। शुक्ल पद्धति के अन्य आलोचकों ने भी सामान्य शैली का उपयोग किया है। बाबूजी समीक्षा की तो यह प्रधान विशेषता ही है[1]।

रीतिकाव्य के सम्बन्धों में डा० श्यामसुन्दर दास जी की दृष्टि आचार्य शुक्ल के विचारों से कहीं-कहीं पर मेल नहीं खाती थी यथा उन्होंने शुक्ल जी की अपेक्षा आचार्य 'केशवदास' को प्रथम आचार्य के रूप में अधिक महत्व दिया और शुक्ल जी की उस धारणा का भी प्रतिवाद किया जिसमें केशवदास को एक हृदयहीन कवि कहा गया है। इस सन्दर्भ में डा० श्यामसुन्दर दास का मन्तव्य है कि "रीतिकाल के इन प्रथम आचार्य केशवदास का स्थान हिन्दी में बहुत अधिक महत्वपूर्ण है। उन्हें हृदयहीन कहकर सम्बोधित करने में हम उनके प्रति अन्याय करते हैं ? क्योंकि उनकी हृदयहीनता जानी समझी हृदयहीनता है, और फिर अनेक स्थलों में उन्होंने पूर्ण सहृदय होने का परिचय दिया है। जिस कवि की रसिकता वृद्धावस्था तक बनी रही, उसे हृदयहीन कहा भी कैसे जा सकता है। यह बात अवश्य है कि केशवदास उन कवि पुंगवों में नहीं गिने जा सकते जो एक विशिष्ट परिस्थिति के निर्माता होते हैं, वे तो अपने समय की परिस्थिति द्वारा निर्मित हुए हैं और उसके प्रत्यक्ष बिम्ब हैं[1]।

शुक्ल सम्प्रदाय में अन्य आलोचक :

बाबू श्यामसुन्दर दास जी के अतिरिक्त शुक्ल पद्धति के प्रधान समालोचकों में निम्नलिखित नाम भी गणनीय हैं— पं० विश्वनाथप्रसाद मिश्र, डा० जगन्नाथप्रसाद शर्मा, पं० कृष्णशंकर शुक्ल, पं० रामकृष्ण शुक्ल 'शिलीमुख', डा० रमाशंकर शुक्ल 'रसाल', पं० रामनरेश त्रिपाठी, पं० गिरिजादत्त गिरीश,

----

१- हिन्दी साहित्य का इतिहास : डा० श्यामसुन्दर दास, पृ०- ३४६

श्री कृष्णानन्द गुप्त आदि ` बिहारी की वाग्विभूति ` भूषण ग्रन्थावली की भूमिका, पद्माकर- पंचामृत, प्रसाद के नाटकों का शास्त्रीय अध्ययन, उद्धव शतक की भूमिका, कविवर रत्नाकर, तुलसीदास और उनकी कविता,` `सुकवि समीक्षा,` गुप्त जी की काव्यधारा, प्रसाद की नाट्य कला आदि ग्रन्थ इस शैली के अच्छे प्रयास हैं। वर्तमान समय में शुक्ल- पद्धति के सबसे प्रतिनिधि पं० विश्वनाथप्रसाद मिश्र कहे जा सकते हैं। मिश्र जी ने इस शैली के प्रौढ़ समालोचनाएं प्रस्तुत की हैं। शुक्ल जी के दृष्टिकोण के वे सबसे बड़े समर्थ हैं। उन्होंने शुक्ल जी की विचारधारा को पूर्णतः आत्मसात् करने का प्रयत्न किया है। शुक्ल जी के समीक्षा- सम्बन्धी व्यापक दृष्टिकोण को सबसे ठीक समझने वालों में मिश्र जी का नाम अग्रगण्य है[1]।

शुक्ल जी तथा बाबू श्यामसुन्दर दास जी के प्रयास से जिस आलोचना पद्धति का जन्म और विकास हुआ है, उसने हिन्दी - साहित्य- समीक्षा को भावी विकास का सच्चा मार्ग दिखा दिया है।

शुक्ल जी द्वारा रीतिकालीन कवियों की आलोचना :

शुक्ल जी ने हिन्दी साहित्य के इतिहास में रीतिकालीन अन्य कई कवियों की समालोचनाएं भी की हैं जिसमें हम मुख्य कवियों को ही उनके द्वारा की गई समालोचनाओं को ही रख रहे हैं।

इसमें कोई सन्देह नहीं कि काव्यरीति का सम्यक् समावेश पहले पहल आचार्य केशव ने ही किया। पर हिन्दी में रीतिग्रन्थों की अविरल और

1- हिन्दी आलोचना:उद्भव और विकास :डा० भगवतस्वरूप मिश्र,पृ० - ४१६

अखण्डित परम्परा का प्रवाह केशव की कविप्रिया के प्राय: पचास वर्ष पीछे चला और वह भी एक भिन्न आदर्श को लेकर, केशव के आदर्श को लेकर नहीं ।

(१) केशव :

केशव काव्य में अलंकारों का स्थान प्रधान समझने वाले चमत्कारी ही कवि थे। उनकी इस मनोवृत्ति के कारण ही हिन्दी साहित्य के इतिहास में एक विचित्र संयोग घटित हुआ । संस्कृत साहित्य के विकास-क्रम की एक संक्षिप्त उद्धरणी हो गई । साहित्य की मीमांसा क्रमश: बढ़ते-बढ़ते जिस स्थिति पर पहुंच गई थी उस स्थिति से सामग्री न लेकर केशव ने उसके पूर्व की स्थिति से सामग्री ली । उन्होंने हिन्दी पाठकों को काव्यांगनिरूपण की उस पूर्व दशा का परिचय कराया जो `भामह` और `उद्भट` के समय में थी, उस उत्तर दशा का नहीं जो आनन्दवर्धनाचार्य, मम्मट और विश्वनाथ द्वारा विकसित हुई । भामह और उद्भट के समय अलंकार और अलंकार्य का स्पष्ट भेद नहीं हुआ था, रस, रीति, अलंकार आदि सबके लिए `अलंकार` शब्द का व्यवहार होता था । यही बात हम केशव की `कविप्रिया` में पाते हैं, पर केशव के उपरान्त तत्काल रीति ग्रन्थों की परम्परा चली नहीं । काव्य के स्वरूप और अंगों के सम्बन्ध में हिन्दी के रीतिकार कवियों ने संस्कृत के परवर्ती ग्रन्थों का मत ही ग्रहण किया है । इस प्रकार दैवयोग से संस्कृत साहित्यशास्त्र के इतिहास की संक्षिप्त उद्धरणी हिन्दी में हो गई[१]।

हिन्दी रीति ग्रन्थों की परम्परा चिन्तामणि त्रिपाठी से चली, अत:

१- हिन्दी साहित्य का इतिहास : आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, पृ०- १२६

रीतिकाल का आरम्भ उन्हीं से मानना चाहिए। परन्तु शुक्ल जी का मत है कि हिन्दी में लक्षण ग्रन्थ की परिपाटी पर रचना करने वाले जो सैकड़ों कवि हुए हैं वे आचार्य कोटि में नहीं आ सकते। वे वास्तव में कवि ही थे। इन रीतियों पर ही निर्भर रहने वाले व्यक्ति का साहित्य ज्ञान कच्चा ही समझा जाना चाहिए। यह सब लिखने का अभिप्राय यहां केवल इतना ही है कि यह न समझा जाय कि रीतिकाल के भीतर साहित्यशास्त्र पर गम्भीर और विस्तृत विवेचन तथा नई- नई बातों की उद्भावना होती रही[1]।

काव्यांगों का विस्तृत समावेश दास जी ने `काव्यनिर्णय` में किया है। अलंकारों को जिस प्रकार उन्होंने बहुत से छोटे- छोटे प्रकरणों में बांटकर रखा है उससे भ्रम हो सकता है कि शायद किसी आधार पर उन्होंने अलंकारों का वर्गीकरण किया है। पर वास्तव में उन्होंने किसी प्रकार के वर्गीकरण का प्रयत्न नहीं किया है। दास जी की एक नई योजना अवश्य ध्यान देने योग्य है। संस्कृत काव्य में अन्त्यनुप्रास या तुक का चलन ही था, इससे संस्कृत के साहित्य ग्रन्थों में उसका विचार नहीं हुआ है। पर हिन्दी काव्य में वह बराबर आरम्भ से ही मिलता है। अतः दास जी ने अपनी पुस्तक में उसका विचार करके बड़ा ही आवश्यक कार्य किया[2]।

भूषण का `भाविक छवि` एक नया अलंकार सा दिखाई पड़ता है, पर वास्तव में संस्कृत ग्रन्थों में `भाविक` का ही एक दूसरा या प्रतिबिंबित रूप है। `भाविक` का सम्बन्ध कालगत दूरी से है; इसका देश- काल से। बस इतना अन्तर है।

१-२ हिन्दी साहित्य का इतिहास: आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, पृ०-१२९-१३०, १३०

क्रमशः

दास जी के अतिशयोक्ति के पांच नए दिखाई पड़ने वाले भेदों में से चार तो भेदों के भिन्न योग है। पांचवां `सम्भावनातिशयोक्ति` तो सम्बन्धातिशयोक्ति ही है।

देव कवि का संचारियों के बीच छल बढ़ा देना बहुत कुछ लोगों को नई सूझ समझ पड़ा है। उन्हें समझना चाहिए कि देव ने जैसे और सब बातें संस्कृत की `रसतरंगिणी` से ली है वैसे ही यह `छल` भी। सच पूछिये तो छल का अन्तर्भाव अवहित्था में ही जाता है।

केशवदास ने रूपक के तीन भेद दण्डी से लिए—अद्भुत रूपक, विरुद्ध रूपक और रूपक रूपक। इनमें से प्रथम का लक्षण भी स्वरूप व्यक्त नहीं करता और उदाहरण भी अधिक तद्रूप्य रूपक का हो गया है। विरुद्ध रूपक भी दण्डी से नहीं मिलता और रूपकातिशयोक्ति हो गया है। रूपक रूपक दण्डी के अनुसार वहां होता है जहां प्रस्तुत पर एक अप्रस्तुत का आरोप करके फिर दूसरे अप्रस्तुत का भी आरोप कर दिया जाता है। केशव के न तो लक्षण से यह बात प्रकट होती है न उदाहरण से। उदाहरण में दण्डी का ऊपरी ढांचा भर झलकता है, पर असल बात का पता नहीं है। इससे स्पष्ट है कि बिना ठीक तात्पर्य समझे ही लक्षण और उदाहरण हिन्दी में दे दिये गये हैं[1]।

इन रीतिग्रन्थों के कर्त्ता भावुक, सहृदय और निपुण कवि थे। उनका उद्देश्य कविता करना था न कि काव्यांगों का शास्त्रीय पद्धति पर निरूपण करना। अतः उनके द्वारा बड़ा भारी कार्य यह हुआ कि रसों (विशेषतः

श्रृंगार) और अलंकारों के बहुत ही सरस और हृदयग्राही उदाहरण अत्यन्त प्रचुर परिमाण में प्रस्तुत हुए । ऐसे सरस और मनोहर उदाहरण संस्कृत के सारे लक्षणों से चुनकर इकट्ठा करें तो भी उनकी इतनी अधिक संख्या न होगी । अलंकारों की अपेक्षा नायिका भेद की ओर कुछ अधिक झुकाव रहा । इससे श्रृंगाररस के अन्तर्गत बहुत मुक्तक रचना हिन्दी में हुई । इस रस का इतना अधिक विस्तार हिन्दी साहित्य में हुआ कि इसके इस अंग को लेकर स्वतन्त्र ग्रन्थ रचे गये । इस रस का सारा वैभव कवियों को नायिका भेद के भीतर दिखाया । इस ग्रन्थ से वास्तव में नायिका भेद के ही ग्रन्थ हैं जिनमें और दूसरे रस पीछे से संक्षेप में चलते कर दिये गए हैं । नायिका श्रृंगार रस का आलम्बन है । इस आलम्बन के अंगों का वर्णन एक स्वतन्त्र विषय हो गया और न जाने कितने ग्रन्थ केवल नख-शिख वर्णन के लिखे गए । इसी प्रकार उद्दीपन के रूप में षट्ऋतु वर्णन पर भी कई अलग पुस्तकें लिखी गईं । विप्रलम्भ सम्बन्धी ` बारहमासे ` भी कुछ कवियों ने लिखे । रीति ग्रन्थों की इस परम्परा द्वारा साहित्य के विस्तृत विकास में कुछ बाधा भी पड़ी । प्रकृति की अनेकरूपता, जीवन की भिन्न- भिन्न चिंत्य बातों तथा जगत् के नाना रहस्यों की ओर कवियों की दृष्टि नहीं जाने पाई । वह एक प्रकार के बद्ध और परिमित सी हो गई । उसका क्षेत्र संकुचित हो गया । वाग्धारा बंधी हुई नालियों में ही प्रवाहित होने लगी जिससे अनुभव के बहुत से गोचर और अगोचर विषय रससिक्त होकर सामने आने से रह गए । दूसरी बात यह हुई कि कवियों की व्यक्तिगत विशेषताकी अभिव्यक्ति का अवसर बहुत ही कम रह गया । कुछ कवियों के बीच भाषा- शैली पदविन्यास, अलंकारविधान

आदि बाहरी बातों का भेद शुक्ल जी थोड़ा- बहुत दिखा सके, पर उनकी आभ्यन्तर प्रवृत्ति के अन्वीक्षण में समर्थ उच्चकोटि की आलोचना की सामग्री बहुत कम पा सकते हैं[१]।

रीतिकाल में एक बड़े भारी अभाव की पूर्ति हो जानी चाहिए थी, पर वह नहीं हुई। भाषा जिस समय सैकड़ों कवियों द्वारा परिमार्जित होकर प्रौढ़ता को पहुंची उसी समय व्याकरण द्वारा उसकी व्यवस्था होनी चाहिए थी कि जिससे उस च्युत संस्कृति दोष का निराकरण होता जो व्रजभाषा काव्य में कुछ और सफाई आती। बहुत थोड़े कवि ऐसे मिलते हैं, जिनकी वाक्यरचना सुव्यवस्थित पाई जाती है। भूषण अच्छे कवि थे। जिस रस को उन्होंने लिया उसका पूरा आवेश उनमें था, पर भाषा उनकी अनेक स्थलों पर सदोष है। यदि शब्दों के रूप स्थिर हो जाते और शुद्ध रूपों के प्रयोग पर जोर दिया जाता तो शब्दों को तोड़-मरोड़ कर विकृत करने का साहस कवियों को न होता। पर इस प्रकार की कोई व्यवस्था नहीं हुई जिससे भाषा में बहुत कुछ गड़बड़ी बनी रही[२]।

भाषा की गड़बड़ी का एक कारण व्रज और अवधी इन दोनों काव्य भाषाओं का कवि की इच्छानुसार सम्मिश्रण भी था। सूरदास की भाषा में यत्र- तत्र पूरवी प्रयोग जैसे मोर, हमार, कीन, अस, जस इत्यादि। बराबर मिलते हैं। बिहारी की भाषा भी `कीन` `दीन` आदि से खाली नहीं। रीति ग्रन्थों का विकास अधिकतर अवध में हुआ। अतः इस काल

१- हिन्दी साहित्य का इतिहास : आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, पृ०- १३१

२- वही पृ०- १३१- १३२

में काव्य की ब्रजभाषा में अवधी के प्रयोग और अधिक मिले[१]।

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल जी ने हिन्दी साहित्य के इतिहास में रीतिकालीन कवियों की कम-से-कम सौ से ऊपर तुलना की है। परन्तु कुछ मुख्य कवियों के आलोचनात्मक वर्णन कर चुके हैं। और आगे देखिये।

(२) चिन्तामणि :

इनके बारे में शुक्ल जी का विचार है कि चिन्तामणि जी ने काव्य के सब अंगों पर ग्रन्थ लिखे। इनकी भाषा ललित और सानुप्रास होती थी। अवध के पिछले कवियों की भाषा देखते हुए इनकी ब्रजभाषा विशुद्ध दिखाई पड़ती है। विषय वर्णन की प्रणाली मनोहर है। ये वास्तव में एक उत्कृष्ट कवि थे[२]।

चिन्तामणि के सम्बन्ध में शुक्ल जी की एक महत्वपूर्ण धारणा यह थी कि रीति परम्परा का आरम्भ केशव से नहीं पर चिन्तामणि द्वारा हुआ।

(३) बिहारीलाल :

बिहारीलाल जी ने सतसई के अतिरिक्त कोई ग्रन्थ नहीं लिखा यही

१- हिन्दी साहित्य का इतिहास : आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, पृ०- १३२

२- वही, पृ०- १३४

एक ग्रन्थ उनकी इतनी बड़ी कीर्ति का आधार है। मुक्तक कविता में जो गुण होने चाहिए वह बिहारी के दोहों में अपने चरम उत्कर्ष को पहुँचा है, इसमें कोई सन्देह नहीं। मुक्तक में प्रबन्ध के समान रस की धारा नहीं रहती जिसमें कथा प्रसंग की परिस्थिति में अपने को भूला हुआ पाठक मग्न हो जाता है और हृदय में एक स्थायी प्रभाव ग्रहण करता है। इसमें तो रस के ऐसे छींटे पड़ते हैं जिनसे हृदयकलिका थोड़ी देर के लिए खिल उठती है। यदि प्रबन्ध काव्य एक विस्तृत वनस्थली है तो मुक्तक एक चुना हुआ गुलदस्ता है[1]। अतः जिस कवि में कल्पना की समाहार शक्ति के साथ भाषा की समाहार शक्ति जितनी अधिक होगी उतनी ही वह मुक्तक की रचना में सफल होगा। यह क्षमता बिहारी में पूर्ण रूप से वर्तमान थी। इसी से वे दोहे ऐसे छोटे छन्द में इतना रस भर सके हैं। इनके दोहे क्या हैं रस के छोटे-छोटे छींटे हैं। इसी से किसी ने कहा है--

सतसैया के दोहरे ज्यों नावक के तीर।
देखत में छोटे लगैं, बेधैं सकल शरीर ।।

बिहारी की रसव्यंजना का पूर्ण वैभव उनके अनुभावों के विधान में दिखाई पड़ता है। भावव्यंजना या रस व्यंजना के अतिरिक्त बिहारी ने वस्तु व्यंजना का सहारा भी बहुत लिया है-- विशेषतः शोभा या कान्ति, सुकुमारता, विरहताप, विरह की क्षीणता आदि के वर्णन में। कहीं-कहीं

१- हिन्दी साहित्य का इतिहास : आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, पृ०- १३६

वस्तुव्यंजना औचित्य की सीमा का उल्लंघन करके खेलवाड़ के रूप में हो गई है। अनेक स्थानों पर इनके व्यंग्यार्थ को स्फुट करने के लिये बड़ी क्लिष्ट कल्पना अपेक्षित होती है। ऐसे स्थलों पर केवल रीति या रूढ़ि ही पाठक की सहायता करती है। और उसे पूरे प्रसंग का आक्षेप करना पड़ता है। ऐसे दोहे बिहारी में बहुत से हैं। अलंकार योजना भी इन कवियों ने बड़ी निपुणता से की है। किसी दोहे में कई अलंकार उलझ पड़े हैं, पर उनके कारण कहीं भद्दापन नहीं आया है।

बिहारी ने यद्यपि लक्षण ग्रन्थ के रूप में अपनी 'सतसई' नहीं लिखी है, पर 'नखशिख', 'नायिका भेद,' षट्ऋतु के अन्तर्गत उनके सब शृंगारी दोहे आ जाते हैं और कई टीकाकारों ने दोहों को इस प्रकार के साहित्यिक क्रम के साथ रखा भी है। बिहारी का ध्यान लक्षणों पर था। इसलिए शुक्ल जी ने बिहारी को रीतिकाल के प्रतिनिधि कवियों में ही रखा है।

बिहारी की कृति का मूल्य जो बहुत अधिक आंका गया है उसे अधिकतर रचना की बारीकी या काव्यांगों के सूक्ष्म विन्यास की निपुणता की ओर ही मुख्यत: दृष्टि रखने वाले पारखियों के पक्ष से समझना चाहिए, उनके पक्ष से समझना चाहिए जो किसी हाथी-दांत के टुकड़े पर महीन बेलबूटे देख घण्टों वाह्वाही किया करते हैं। पर जो हृदय के अन्तस्तल पर मार्मिक प्रभाव चाहते हैं, किसी भाव की स्वच्छ निर्मल धारा में कुछ देर अपना मग्न रखना चाहते हैं, उनका सन्तोष बिहारी से नहीं हो सकता। बिहारी का काव्य हृदय में किसी ऐसी लय या संगीत का संचार नहीं करता जिसकी स्वरधारा कुछ काल तक गूंजती रहे। यदि घुले हुए भावों का प्रवाह बिहारी में होता

करें तो देव और पद्माकर के कवित्त सवैयों का सा गूंजने वाला प्रभाव बिहारी के दोहों का नहीं पड़ता।

दूसरी बात यह कि भावों का बहुत उत्कृष्ट और उदात्त स्वरूप बिहारी में नहीं मिलता। कविता उनकी श्रृंगारी है, पर प्रेम की उच्चभूमि पर नहीं पहुंचती, नीचे ही रह जाती है[1]।

श्रृंगारिक मुक्तकों की परम्परा में बिहारी सतसई की शुक्ल जी ने मुक्त कण्ठ से प्रशंसा की है। कलात्मक प्रौढ़ता, वस्तुगत सौन्दर्य दृष्टि का विनियोग और सजग कल्पना और सामासिक भाषा के समाहार के साथ अनुभाव विधान या चित्रविधायिनी उद्भावना में वे अप्रतिम और बेजोड़ माने गए हैं।

(४) मतिराम :

मतिराम की रचना की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि उसकी सरलता अत्यन्त स्वाभाविक है, न तो उसमें भावों की कृत्रिमता है, न भाषा की। भाषा शब्दाडम्बर से सर्वथा मुक्त है केवल अनुप्रास के चमत्कार के लिए अशक्त शब्दों की भर्ती कहीं नहीं है। जितने शब्द और वाक्य हैं वे सब भावव्यंजना से ही प्रयुक्त हैं। रीतिग्रन्थ वाले कवियों में इस प्रकार की स्वच्छ, चलती और स्वाभाविक भाषा कम कवियों में मिलती है।

१- हिन्दी साहित्य का इतिहास : आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, पृ० - १३६

है पर कहीं-कहीं वह अनुप्रास के जाल में बेतरह जकड़ी पायी जाती है। मतिराम की-सी रसस्निग्ध और प्रसादपूर्ण भाषा रीति का अनुसरण करने वालों में बहुत ही कम मिलती है[1]।

(५) भूषण :

रीतिकाल के भीतर शृंगाररस की प्रधानता रही। कुछ कवियों ने अपने आश्रयदाताओं की स्तुति में उनके प्रताप आदि के प्रसंग में उनकी वीरता का भी थोड़ा बहुत वर्णन अवश्य किया है पर वह शुक्ल प्रथा-पालन के रूप में ही होने के कारण ध्यान देने योग्य नहीं है। रीतिकाल के कवि होने के कारण भूषण ने अपना प्रधान ग्रन्थ `शिवराजभूषण` अलंकार के ग्रन्थ के रूप में बनाया। पर रीतिग्रन्थ की दृष्टि से, अलंकार निरूपण के विचार से यह उत्तम ग्रन्थ नहीं कहा जा सकता। लक्षणों की भाषा भी स्पष्ट नहीं है और उदाहरण भी कई स्थलों पर ठीक नहीं है। भूषण की भाषा में ओज की मात्रा तो पूरी है पर वह अधिकतर अव्यवस्थित है। व्याकरण का उल्लंघन प्राय: है और वाक्यरचना भी कहीं-कहीं गड़बड़ है। इसके अतिरिक्त शब्दों के रूप भी बहुत बिगाड़े गए हैं और कहीं-कहीं बिलकुल मनगढ़न्त के शब्द रखे गये हैं। पर जो कवित्त इन दोनों से मुक्त है वे बड़े ही शसक्त और प्रभावशाली हैं[2]।

१- हिन्दी साहित्य का इतिहास : आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, पृ०- १३६

२- वही, पृ०- १४१

(६) कुलपति मिश्र :

रीतिकाल के कवियों में ये संस्कृत के अच्छे विद्वान् थे। इनका रसरहस्य मम्मट के काव्यप्रकाश का छायानुवाद है।

(७) देव :

रीतिकाल के प्रतिनिधि कवियों में शायद सबसे अधिक ग्रन्थ रचना देव की है। इनका `सुखसागर तरंग` प्राय: अनेक ग्रन्थों से लिए हुए कविताओं का संग्रह है। `रागरत्नाकर` में राग-रागिनियों के स्वरूप का वर्णन है। `अष्टयाम` तो रात दिन के भोग-विलास की दिनचर्या है जो मानो उस काल के अकर्मण्य और विलासी राजाओं के सामने कालयापन विधि का ब्योरा पेश करने के लिए बनी थी। `ब्रह्मदर्शन` पचीसी, और तत्वदर्शन पचीसी में जो विरक्ति का भाव है वह बहुत सम्भव है कि अपनी कविता के प्रति लोक की उदासीनता देखते-देखते उत्पन्न हुई हो[1]।

देव जी आचार्य और कवि दोनों के रूप में सामने आते हैं। यह पहले बताया जा चुका है कि आचार्यत्व के पद के अनुरूप कार्य करने में रीतिकाल के कवियों में पूर्णरूप से कोई समर्थ नहीं हुआ। अत: आचार्य के रूप में देव को कोई विशेष स्थान नहीं दिया जा सकता। कुछ लोग भक्तिवश अवश्य और बहुत सी बातों के साथ इन्हें कुछ शास्त्रीय उद्भावना का श्रेय भी देना चाहा है। वे ऐसे ही लोग हैं जिन्हें `तात्पर्य वृत्ति` एक नयन नाम मालूम होता

१- हिन्दी साहित्य का इतिहास : आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, पृ०- १४६

है और जो संचारियों में एक ` छल ` और बड़ा हुआ देखकर चौंकते हैं[1]।

अभिधा, लक्षणा आदि शब्दशक्तियों का निरूपण हिन्दी के रीति ग्रन्थों में प्राय: कुछ भी नहीं हुआ। इस विषय का सम्यक् ग्रहण और परिपाक ज़रा है भी कठिन। इस दृष्टि से देव के इस कथन पर कि-

अभिधा उत्तम काव्य है, मध्य लक्षणा लीन।
अधम व्यंजना रस बिरस, उलटी कहत नवीन ।।

देव जी का यहां व्यंजना से तात्पर्य पहेली बुझौवल वाली वस्तु व्यंजना का ही जान पड़ता है। यह दोहा लिखते समय उसी का विकृत रूप उनके ध्यान में था[2]।

कवित्वशक्ति और मौलिकता देव में खूब थी पर उनके सम्यक् स्फुरण में उनकी रुचि विशेष प्राय: बाधक हुई है। कभी-कभी वे बड़े पेचीले मजमून का हौसला बांधते थे पर अनुप्रास के आडम्बर की रुचि बीच में ही उनका अंग भंग करके सारे पद्य को कीचड़ में फंसा छकड़ा बना देती थी। भाषा में कहीं-कहीं स्निग्ध प्रवाह न आने का एक कारण यह भी था। अधिकतर इनकी भाषा में प्रवाह पाया जाता है। कहीं-कहीं शब्दक बहुत अधिक और अर्थ अल्प हैं[3]।

अक्षर मैत्री के ध्यान से इन्हें कहीं-कहीं अशक्त शब्द रखने पड़ते थे जो कभी-कभी अर्थ को आच्छन्न करके तुकांत और अनुप्रास के लिये ये कहीं-कहीं

१- हिन्दी साहित्य का इतिहास : आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, पृ० - १४७

२- वही, पृष्ठ १४८

शब्दों को ही तोड़ने-मरोड़ते थे, वाक्य को भी अविन्यस्त कर देते थे। जहां अभिप्रेत भाव का निर्वाह पूरी तरह हो पाया है, या जहां उसमें कम बाधा पड़ी है, वहां की रचना बहुत ही सरस हुई है। रीतिकाल के कवियों में ये बड़े प्रगल्भ और प्रतिभासम्पन्न कवि थे, इस काल के बड़े कवियों में इनका विशेष गौरव का स्थान है। कहीं-कहीं इनकी कल्पना बहुत सूक्ष्म और दूरारूढ़ है[1]।

(८) भिखारीदास :

काव्यनिर्णय में दास जी ने प्रतापगढ़ के सोमवंशी राजा पृथ्वी सिंह के भाई बाबू हिन्दूपति सिंह को अपना आश्रयदाता लिखा है। इनकी विषय-प्रतिपादन शैली उत्तम है और आलोचना शक्ति भी इनमें कुछ पाई जाती है, जैसे, हिन्दी काव्य क्षेत्र में इन्हें परकीया के प्रेम की प्रचुरता दिखाई पड़ी, जो रस की दृष्टि से रसाभास के अन्तर्गत आता है। बहुत से स्थलों पर तो राधाकृष्ण का नाम आने से देवकाव्य का आरोप हो जाता है और दोष का कुछ परिहार हो जाता है, पर सर्वत्र ऐसा नहीं होता। इससे दास जी ने स्वकीया का लक्षण ही कुछ अधिक व्यापक करना चाहा और कहा—

> श्रीमानन के भौन में भोग्य भामिनी और।
>
> तिनहूं को सुकियाह में गनैं सुकवि सिरमौर।।

पर यह कोई बड़े महत्व की उद्भावना नहीं कही जा सकती है। जो लोग

१- हिन्दी साहित्य का इतिहास : आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, पृ०- १४७

दास जी के दस और हावों के नाम लेने पर चौंके हैं उन्हें जानना चाहिए कि साहित्य दर्पण में नायिकाओं के स्वभावज अलंकार १८ कहे गए हैं। लीला, विलास विच्छित्त, विब्बोक, किलकिंचित, मोट्टायित, कुट्टमित्त विभ्रम, ललित, विहृत्व, मद, तपन, मौग्ध्य, विक्षेप, कुतूहल, हसित, चकित और केलि। इनमें से अन्तिम आठ को लेकर यदि दास जी ने भाषा में प्रचलित दस हावों में जोड़ दिया तो क्या नई बात की ? यह चौंकना तब तक बना रहेगा जब तक हिन्दी में संस्कृत के मुख्य सिद्धान्त ग्रन्थों के सब विषयों का यथावत् समावेश न हो जायगा और साहित्यशास्त्र का सम्यक् अध्ययन न होगा[1]।

दास जी के लक्षण की व्याख्या के बिना अपर्याप्त और कहीं-कहीं भ्रामक हैं और उदाहरण भी कुछ स्थलों पर अशुद्ध हैं। जैसे उपादान लक्षणा लीजिए। इसका लक्षण भी गड़बड़ है और उसी के अनुरूप उदाहरण भी अशुद्ध है। अतः दास जी भी औरों के समान वस्तुतः कवि के रूप में ही आते हैं। सच्चे आचार्य का पूरा रूप दास जी को भी प्राप्त नहीं हो सका है[2]।

भिखारीदास के सम्बन्ध में शुक्ल जी की निम्नलिखित धारणा यह है कि —

(१) अन्य हिन्दी कवियों की तुलना में उनमें आचार्यत्व की अच्छी प्रतिभा थी।

(२) आचार्य दास ने शब्द शक्तियों का विवेचन काव्यप्रकाश के आधार पर बड़ी प्रांजल और सुबोध शैली में प्रस्तुत किया है।

१- हिन्दी साहित्य का इतिहास : आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, पृ०- १५३

२- वही, १५३

(३) तुक निर्णय विषयक विवेचन दास की मौलिकता के अन्तर्गत आता है।

(६) <u>पद्माकर भट्ट :</u>

रीतिकाल के कवियों में सहृदय समाज इन्हें बहुत श्रेष्ठ स्थान देता आया है। ऐसा सर्वप्रिय कवि इस काल के भीतर बिहारी को छोड़कर दूसरा नहीं हुआ। इनकी भाषा में वह अनेकरूपता है जो एक बड़े कवि में होनी चाहिए। भाषा की ऐसी अनेकरूपता गोस्वामी तुलसीदास जी में भी दिखाई पड़ती है[१]।

अनुप्रास की प्रवृत्ति तो हिन्दी के प्राय: सब कवियों में आवश्यकता से अधिक रही है। पद्माकर भी उनके प्रभाव से नहीं बचे हैं। पर थोड़ा ध्यान देने पर यह प्रवृत्ति इनमें अरुचिकर सीमा तक कुछ विशेष प्रकार के पद्यों में ही मिलेगी जिनमें ये जानबूझ कर शब्द चमत्कार प्रकट करना चाहते थे। जहां मधुर कल्पना के बीच सुन्दर कोमल भावतरंग का स्पन्दन है वहां की भाषा बहुत ही चलती, स्वाभाविक और साफ-सुथरी है— वहां अनुप्रास भी है तो बहुत संयम रूप में। लक्षण शब्दों के प्रयोग द्वारा कहीं-कहीं ये मन की अत्यन्त भावना को ऐसा मूर्तिमान कर देते हैं कि सुनने वालों का हृदय आपसे आप हामी भरता है। यह लाक्षणिक भी इनकी एक बड़ी भारी विशेषता है।

१- हिन्दी साहित्य का इतिहास : आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, पृ०- १७०

रीतिकाल के प्रतिनिधि कवियों का, जिन्होंने लक्षण ग्रन्थ के रूप में रचनाएं की हैं, संक्षेप में वर्णन हो चुका है। अब ऐसे कवियों की शुक्ल जी ने आलोचना की है जिन कवियों ने प्रबन्ध काव्य लिखे हैं ये पिछले वर्ग के कवियों से केवल इस बात में भिन्न हैं कि इन्होंने क्रम से रसों, भावों, नायिकाओं और अलंकारों के लक्षण कहकर उनके अन्तर्गत अपने पद्यों को नहीं रखा है। अधिकांश में ये भी शृंगारी कवि हैं और इन्होंने शृंगाररस के फुटकल पद्य कहे हैं। रचना-शैली में किसी प्रकार का भेद नहीं है। ऐसे कवियों में घनानन्द सर्वश्रेष्ठ हैं।

(१०) <u>घनानन्द :</u>

ये साक्षात् रसमूर्ति और ब्रजभाषा काव्य के प्रधान स्तम्भों में हैं। इनकी सी विशुद्ध, सरस और शक्तिशालिनी ब्रजभाषा लिखने में और कोई कवि समर्थ नहीं हुआ विशुद्धता के साथ प्रौढ़ता और माधुर्य भी अपूर्व ही है। विप्रलम्भ शृंगार ही अधिकतर इन्होंने लिखा है। ये वियोग शृंगार के प्रधान मुक्तक कवि हैं। `प्रेम की पीर` ही को लेकर इनकी वाणी का प्रादुर्भाव हुआ। प्रेममार्ग का ऐसा प्रवीण और धीर पथिक तथा जबांदानी का ऐसा दावा रखने वाला ब्रजभाषा का दूसरा कवि नहीं हुआ।

इन्होंने अपनी कविताओं में बराबर `सुजान` को सम्बोधन किया है जो शृंगार में नायक के लिए और भक्तिभाव में भगवान कृष्ण के लिए ही प्रयुक्त मानना चाहिए। कहते हैं कि अपनी पूर्वप्रेयसी `सुजान` का नाम इतना

प्रिय था कि विरक्त होने पर भी इन्होंने उसे नहीं छोड़ा ।

यद्यपि इन्होंने संयोग और वियोग दोनों पक्षों को लिया है,पर वियोग की अन्तर्दशा की ओर अधिक ध्यान दिया है। इसी से इनके वियोग सम्बन्धी पद्य प्रसिद्ध हैं। वियोग वर्णन भी अधिकतर अंतर्वृत्तिनिरूपक है, वाह्यार्थनिरूपक नहीं। घनानन्द ने न तो बिहारी की तरह बिरहताप को बाहरी माप से मापा है, न बाहरी उछलकूद दिखाई है। जो कुछ हलचल है वह भीतर की है— बाहर से यह वियोग प्रशांत और गम्भीर है, न उसमें करवटें बदलना है, न सेज का आग की तरह तपना है, न उछलकर भागना है। उनकी ' मौन मधि पुकार ' है[1]।

लक्षणा का विस्तृत मैदान खुला रहने पर भी हिन्दी कवियों ने उसके भीतर बहुत ही कम पैर बढ़ाया। एक घनानन्द ही ऐसे कवि हुए जिन्होंने इस क्षेत्र में अच्छी दौड़ लगाई। लाक्षणिक मिचित्मत्ता और प्रयोगवैचित्र्य की जो छटा दिखाई पड़ी, खेद है कि वह फिर पौने दो सौ वर्ष पीछे जाकर आधुनिक काल के उत्तरार्द्ध में, अर्थात् वर्तमान काल की नूतन काव्यधारा में ही, ' अभिव्यंजनावाद ' के प्रभाव से कुछ विदेशी रंग लिए प्रकट हुई। कविता उद्धरणों में कवि की चुभती हुई वचनवक्रता पूरी-पूरी झलकती है। कहने की आवश्यकता नहीं कि कवि की उक्ति ने वक्र पथ हृदय के वेग के कारण पकड़ा है[2]।

१- हिन्दी साहित्य का इतिहास : आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, पृ० - १८६- १८७

२- वही.

भाव का स्रोत जिस प्रकार टकराकर कहीं-कहीं वक्रोक्ति के छींटे फेंकता है उसी प्रकार कहीं-कहीं भाषा के स्निग्ध, सरल और चलते प्रवाह के रूप से भी प्रकट होता है। ऐसे स्थलों पर अत्यन्त चलती और प्रांजल ब्रजभाषा की रमणीयता दिखाई पड़ती है।

(११) सूदन :

इनके काव्य 'सुजान चरित' रचना के सम्बन्ध में सबसे पहली बात जिस पर ध्यान जाता है वह वर्णनों का अत्यधिक विस्तार और प्रचुरता है। वस्तुओं की गिनती गिनाने की प्रणाली का इस कवि ने बहुत अधिक अवलम्बन किया है, जिससे पाठकों को बहुत से स्थलों पर अरुचि हो जाती है। कहीं घोड़ों की जातियों के नाम ही गिनते चले गए हैं, कहीं अस्त्रों और वस्त्रों की सूची की भरमार है, कहीं भिन्न-भिन्न देशवासियों और जातियों की फिहरिस्त चल रही है। इस कवि को साहित्यिक मर्यादा का ध्यान बहुत ही कम था। भिन्न-भिन्न भाषाओं और बोलियों को लेकर कहीं-कहीं इन्होंने पूरा खेलवाड़ किया है। ऐसे चरित्र को लेकर जो गाम्भीर्य काव्य में होना चाहिए था वह इनमें नहीं पाया जाता है। पद्य में ऐसे व्यक्तियों और वस्तुओं के नाम भरने की निपुणता इस कवि की एक विशेषता समझिए। ग्रन्थारम्भ में ही १७५ कवियों के नाम गिनाए गए हैं। सूदन में युद्ध, उत्साह पूर्ण भाषण, ग्रन्थ का साहित्यिक महत्व बहुत कुछ घटा हुआ है। प्रगल्भता

और प्रचुरता का प्रदर्शन सीमा का अतिक्रमण कर जाने के कारण जगह-जगह खटकता है। भाषा के साथ भी सूदन जी ने पूरी मनमानी की है। पंजाबी, खड़ीबोली सबका पुट मिलता है। न जाने गढ़ंत के और तोड़े-मरोड़े शब्द लाए गए हैं। जो स्थल इन सब दोषों से मुक्त है वे अवश्य मनोहर है पर अधिकतर शब्दों की तड़ातड़ भड़ाभड़ से जी ऊबने लगता है[१]।

शुक्ल जी के आलोचना की दृष्टि शास्त्रीय थी यह पहले ही बताया जा चुका है। इसके पश्चात् हम अन्तिम अध्याय में शुक्लोत्तर पीढ़ी के आलोचकों की आलोचना दृष्टि पर विचार करेंगे।

१- हिन्दी साहित्य का इतिहास : आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, पृ०- २००

पंचम अध्याय

: शुक्लोत्तर युग : शुक्लोत्तर पीढ़ी की समीक्षा और और रीतिकाव्य के मूल्यांकन की दृष्टियां

(क) रीति समीक्षा में सौन्दर्यशास्त्रीय दृष्टि

(i) रूपचित्रण और रसात्मक चेतना का धरातल

(ii) मानवीय जीवन में प्रेम की महत्ता

(ख) मनोवैज्ञानिक दृष्टि

(ग) समाजशास्त्रीय दृष्टि

(क) रीति समीक्षा में सौन्दर्यवादी दृष्टि

काव्य और कला कवि एवं उसके काल के चिन्तन के प्रभाव से अस्पृष्ट नहीं रह सकते। कलाकृति अपने निर्माण-काल की जीवन-सम्बन्धी धारणाओं की ही सौन्दर्यपूर्ण एवं अनुभूति अभिव्यक्ति है। ये विचारधाराएं एक प्रकार से काव्य का उपादान कारण हैं। कवि के व्यक्तित्व के अन्तस्तल में आलोचक का स्वरूप स्पष्ट दृष्टिगोचर होता है। इसलिए 'मैथ्यू आर्नल्ड' कविता को जीवन की आलोचना कहते हैं।

आधुनिक हिन्दी कविता में युगान्तकारी परिवर्तन कर देने वाला छायावाद भी अपने साथ नूतन जीवन-दर्शन, समीक्षा की नवीन पद्धति और नवीन मान लेकर आया, स्वच्छन्दता और सौष्ठव इस काल की कविता तथा समीक्षा दोनों की मूल प्रेरणा है।[1]

जिन प्रेरणाओं का परिणाम छायावाद था, उनके कारण यह धारा एकदम नवीन काव्य के साथ साहित्य-क्षेत्र में प्रविष्ट हुई थी। इसका वर्ण्य-विषय भाषा-शैली, सन्देश, अन्तस्तल में प्रवाहित दार्शनिक धारा आदि से भी कुछ नया था। इसकी नवीनता और विलक्षणता इसके कर्णधारों की आंखों में भी चकाचौंध उत्पन्न करने

१- हिन्दी आलोचना उद्भव और विकास :

डा० भगवत स्वरूप मिश्र, पृ०-४२१

वाली थी। इसके शैशव में वे भी यह निश्चय नहीं कर पाये थे कि यह क्या स्वरूप धारण करेगी। यह प्रवाह किस दिशा और धारा में बहेगी, इसका उन्हें भी ठीक-ठीक पता नहीं था। पन्त जी और प्रसाद जी इस परिवर्तन के प्रति हमेशा सजग रहे हैं। पन्त जी अपने 'पल्लव' की भूमिका में नवीन काव्य-चेतना के प्रति अपनी सजगता और इसकी तत्कालीन अनिश्चितता स्पष्ट कर देते हैं। "हिन्दी कविता की 'निहारिका' सम्प्रति प्रेमियों के तरुण उत्साह के तीव्र ताप से प्रगति पाकर साहित्याकाश में अत्यन्त वेग से घूम रही है। समय-समय पर जो छोटे-मोटे तारक-पिण्ड उसके टूट पड़ते हैं वे कभी ऐसी शक्ति तथा प्रकाश संगृहीत नहीं कर पाये कि अपनी ही ज्योति में अपने लिए नियमित पन्थ खोज सके जिससे हमारे ज्योतिष से उनकी गतिविधि पर निश्चित सिद्धान्त निर्धारित कर लें। ऐसा पिण्ड निकट भविष्य में किस स्वरूप में घनीभूत होगा[1]---।" ऐसी नवीन धारा के कवियों तथा कलाकृतियों का पुराने परम्परागत मानदण्ड से मूल्यांकन करना सम्भव नहीं था, पुराने आलोचक अपने निश्चित मानदण्ड के सर्वथा प्रतिकूल साहित्य-रचना देखकर उसका स्वागत नहीं कर सके। 'पण्डित महावीरप्रसाद द्विवेदी' जी ने 'कविकिंकर' के नाम से 'सरस्वती' में इस धारा की कटु आलोचना की। शुक्ल जी जैसे आलोचकों ने कुछ उदारता का परिचय देकर इस काव्यधारा के कला-पक्ष की प्रौढ़ता को स्वीकार भी किया, पर प्राचीन समीक्षा इसका उचित रूप से मूल्यांकन नहीं कर सकी।

१-हिन्दी आलोचना उद्भव और विकास: डा० भगवतस्वरूप मिश्र, पृ०-४२८

पण्डित नन्ददुलारे वाजपेयी, पण्डित इलाचन्द्र जोशी, जयशंकर प्रसाद, सुमित्रानन्दन पन्त आदि प्रारम्भ से ही इसका पक्ष समर्थन कर रहे थे। इसलिए उनको इसकी समीक्षा के लिए नूतन मापदण्ड अपनाना पड़ा। छायावाद के तात्त्विक एवं साहित्यिक विश्लेषण तथा उसकी साहित्यिक सम्बन्धी धारणाओं के इतने विशद् निरूपण का एकमात्र तात्पर्य नवीन काव्यधारा का इस नवीन समीक्षा- पद्धति पर व्यापक प्रभाव दिखाना है। इस नवीन समीक्षा के मानदण्ड के तत्वों का निर्माण छायावाद की प्रमुख विशेषताओं से ही हुआ है। स्वच्छन्दता और सौष्ठव इस आलोचना के प्रधान तत्व हैं। छायावादी काव्य के प्रयोजन आदि को शुक्ल- पद्धति के स्थूल नैतिक दृष्टिकोण से ग्रहण नहीं किया, अपितु रस, आह्लाद और रमणीयता को व्यापक और स्वच्छन्द रूप में अपनाया है[1]।

सौन्दर्य सत्य का वाहक है या सत्य सौन्दर्य का, इस तथ्य पर युगों से विचार होता रहा, पर इतना तो स्पष्ट है कि काव्य में सत्य की अभिव्यक्ति सदैव सौन्दर्य के ही माध्यम से होती रही और सत्य के सैद्धान्तिक पक्ष का निरूपण काव्य की इयत्ता का कभी भी स्पृहणीय विषय नहीं बन सका। यूं तो यह ठीक है कि सत्य काव्य का साध्य और सौन्दर्य साधन है, किन्तु इसका यह तात्पर्य नहीं कि सत्य के अनावृत स्वरूप की व्यंजना के लिए कवि या कलाकार को सौन्दर्य की विकलांगता बलात्करण करनी पड़ी है। जहां भी ऐसा किया गया है वहां काव्य को

1- हिन्दी आलोचना उद्भव और विकास : डा० भगवतस्वरूप मिश्र, पृ० - ४२६

रमणीयता एवं मधुर उक्तियां स्वभावतया नीति या उपदेशप्रवणता में परिणत हो गयी है और अपने सहज सौन्दर्य-बोध को प्राय: खो बैठी[1]।

जिस प्रकार काव्य में सत्य के अभिव्यंजन के लिए सौन्दर्य उसका अनिवार्य तत्व माना गया है, उसी प्रकार काव्य में शिल्प और कला की अवस्थिति के लिए सौन्दर्य रूपों की अनिवार्यता स्वीकार की गयी है। पाश्चात्य जगत के विचारकों ने भी सच्ची कला का दर्शन उसके सौन्दर्य विधायक मूल तत्वों में ही किया है, क्योंकि किसी भी कला को अपनी प्रकृत अभिव्यक्ति के लिए सौन्दर्यपूर्ण होना आवश्यक है[2]।

रीति कवियों के शिल्पगत उत्कर्ष का सच्चा रूप उनकी शब्दगत साधना में परिलक्षित होता है। क्या वर्ण मैत्री, क्या शब्द मैत्री, क्या अर्थ लावण्य सभी दृष्टियों से रीति युग का सजग कलाकार पूर्ववर्ती काव्य परम्पराओं से अग्रणी रहा है। हां, शब्दालंकृति की अतिशयता ने कहीं-कहीं काव्य के प्रकृत सौन्दर्य को विकृत करने में भी पर्याप्त योग दिया है, इसमें किंचित सन्देह नहीं किया जा सकता[3]। फिर भी समष्टि रूपेण उस युग के शब्द चयन की असामान्य कुशलता, नाद-सौन्दर्य की विवृत्ति के सफल प्रयास और शब्दों की काट-छांट एवं छन्दानुरूप उन्हें सन्तुलित बनाने की सुष्ठु योजना की श्लाघा रीति काव्य के आलोचकों ने

१- रीति कवियों की मौलिक देन : डा० किशोरी लाल, पृ०-४६१

२- वही,

३- वही, पृ०-४६३

सच्चे मन से की है। इस सम्बन्ध में डा० भगीरथ मिश्र का कथन है--
"रीतिकाव्य की सबसे महत्वपूर्ण विशेषता कवियों की शब्द-साधना में प्रस्फुटित हुई है। शब्द को खोजना, उसका शोधकर, मांजकर प्रयोग करना, उसके भीतर नाद-सौन्दर्य, अर्थ-चमत्कार और उक्तिवैचित्र्य भरना यह सब रीति कवियों की सामान्य विशेषता है[1]।" सच्चे अर्थों में रीति कवि विदग्ध एवं निपुण शब्द शिल्पी थे। इसी से उनकी सुष्ठु शब्द-योजना (डिक्शन) की अनुकृति अन्य भाषाओं में प्राय: नहीं हो सकी। संस्कृत और प्राकृत जैसे समृद्ध वाङ्मय में भी शब्दों की ऐसी कारीगरी एवं कलाबाजी का नमूना नहीं मिलता। वस्तुत: उस युग के ऐसे शब्द चयन और वर्ण्य-मैत्री के व्यापक प्रयोग को देखकर ही "पं० सुमित्रानन्दन पन्त" ने इसकी अत्यधिक शिकायत की है। वे इस काल की अनुप्रासप्रियता तथा शब्दालंकार के ऐसे विशद अनुसरण एवं नाद झंकृति से अधिक सन्तुष्ट नहीं है। "पल्लव" की भूमिका में उनके एतद्विषयक उद्‌गार इस प्रकार हैं--

"जहां भाव और भाषा में मैत्री अथवा ऐक्य नहीं रहता, वहां स्वरों के पावस में केवल शब्दों के "बटु समुदाय" ही दादुरों की तरह इधर-उधर कूदते-फुदकते तथा साम्यध्वनि करते सुनायी देते हैं। ब्रजभाषा के अलंकृत काल की अधिकांश कविता इसका उदाहरण है। अनुप्रासों की

१- ठाकुर ठसक : लाला भगवानदीन, पृ० सं०-१२

अराजकता तथा अलंकारों का ऐसा व्यभिचार और कहीं देखने को नहीं मिलता। स्वस्थ वाणी में जो एक सौन्दर्य मिलता है उसका कहीं पता ही नहीं[१]। पं० सुमित्रानन्दन पन्त ने जिस दृष्टि से रीति कवियों के वर्ण मैत्री - अनुप्रास आदि प्रयोगों पर विचार किया है, उससे लगता है कि वे रीति युग की अधिकांश रचनाओं में इसके औचित्यपूर्ण प्रयोग और संगतियों पर अधिक विश्वास नहीं करते, उनकी दृष्टि में शब्दों और वर्णों के घटाटोप में स्वस्थ वाणी का लावण्य प्राय: प्रच्छन्न हो गया है। पर अधिक सजग दृष्टि डालने पर स्पष्ट पता चलता है कि रीति कवियों के सम्बन्ध में लगाये गये ऐसे आरोप बहुत उचित नहीं प्रतीत होते। अनुप्रासों की अराजकता उन कवियों के सम्बन्ध में तो किसी सीमा तक ठीक जंचती है, जो घटिया दर्जे के कवि थे, और जिनकी शब्द- चयन विषयक कलात्मक प्रौढ़ि बहुत न्यून स्तर की थी, किन्तु देव, पद्माकर, बेनीप्रवीन जैसे कवियों के सम्बन्ध में पन्त जी की उक्त धारणा अधिक चरितार्थ नहीं होती। इसमें सन्देह नहीं कि रीतियुग के ऐसे भी कवि मिलेंगे, जिनका लोग नाम भी नहीं जानते, पर उनकी वाणी शब्दों के प्रयोग में ही नहीं, अर्थाभिव्यक्ति के कौशल और लावण्य में अपनी विशिष्टता की एक अमिट छाप लगा देती है। हम इस कथन की प्रामाणिकता के लिए प्राचीन संग्रह ग्रन्थ से प्राप्त एक अज्ञात नामा कवि की रचना उद्धृत करने का मोह संवरण नहीं कर सकते—

१- पल्लव की भूमिका : सुमित्रानन्दन पन्त, पृ०- ३१

मैं मुरलीधर की मुरली लई मेरो लई मुरलीधर माला ।
मैं मुरली अधरान ठई उन कंठ ठई मुरलीधर माला ।।
मैं मुरलीधर की मुरली दई मेरो दई मुरलीधर माला ।
मैं मुरलीधर की मुरली भई मेरो भये मुरलीधर माला[1] ।।

प्रस्तुत छन्द को देखने से स्पष्ट मालूम हो जाता है कि कुछ परिमित शब्दों के प्रयोग से कवि ने सुष्ठुभाव-योजना की रचना किस कलात्मकता से की है। क्या मजाल कि भावव्यंजना के उत्कर्ष में किसी भी प्रकार की न्यूनता आ पायी हो। केवल 'मुरलीधर,' 'मुरली' और 'माला' की आद्यन्त आवृत्तियों के द्वारा पूरे प्रसंग को जैसी रसमयता और मार्मिकता प्रदान की गयी है। वह अत्यन्त दुर्लभ है। शब्दगत कौशल के मूल में सन्निहित भावान्वित का ऐसा प्रयास नितान्त मौलिक कहा जा सकता है[2]।

स्वच्छन्दतावादी कवि भौतिक उपयोगितावाद अथवा नैतिक उपदेश की दृष्टि से सृजन नहीं करता उसका उद्देश्य सौन्दर्य-दृष्टि है और उसका सीधा सम्बन्ध धार्मिक हो चाहे नैतिक, अनुचित है। प्राय: सभी कवियों और आलोचकों ने इसका प्रतिपादन किया है। काव्य-सम्बन्धी रोमान्टिक दृष्टिकोण यही है। 'बैडले' ने इस दृष्टिकोण को विस्तार से स्पष्ट किया है। 'वर्ड्सवर्थ' ने मानव को मानव के रूप में

१- प्रबोध रस सुधारस : संग्रहकर्ता- ग्वाल कवि, प्रथम तरंग, छ०सं०-४१२
डा० भवानीशंकर याज्ञिक के प्राप्त हस्तलेख से।

२- रीति कवियों की मौलिक देन : डा० किशोरीलाल, पृ०-४६६

हो सच: आनन्द देने की आकांक्षा को ही मूल प्रेरणा तथा प्रयोजन माना है।

प्रसाद जी भी काव्य का यही ध्येय मानते हैं। सौन्दर्य-दृष्टि के अतिरिक्त उन्होंने काव्य का अन्य कोई उद्देश्य नहीं माना है। साहित्य-सौन्दर्य को पूर्णरूप से विकसित करता है और आनन्दमय हृदय उसी का अनुशीलन करता है[१]।

यद्यपि `जयशंकर प्रसाद` तथा `सुमित्रानन्दन पन्त` और `महादेवी वर्मा` ने भी रीतिकाल की आलोचना की है। ये छायावादी कवि रीतिकाल को अच्छी दृष्टि से नहीं देखते थे परन्तु वास्तविकता तो यह है कि छायावादी शैली से निर्मित बहुत-सी रचनाएं रीतिकाव्य से प्रभावित हैं। जयशंकर प्रसाद जी के `आंसू` नामक कविता में रीति से प्रभावित दृष्टि स्पष्ट झलकती है[२]।

(१) जयशंकर प्रसाद :

शुक्ल तथा शुक्ल पूर्व समीक्षा-पद्धतियों के निर्माण का प्रधान श्रेय शास्त्रज्ञ पण्डितों को रहा, पर सौष्ठववादी समीक्षा-पद्धति का स्वरूप निर्माण प्रधानत: युग चेतना एवं साहित्य-स्रष्टाओं के आत्मालोचन तथा

१- `इन्दु,` कला १, किरण २, सन् १९०९

२- आंसू : जयशंकर प्रसाद

आत्म-चिन्तन से हुआ । इस पद्धति की मूल चेतना के निर्माण का श्रेय छायावाद का बृहत्चतुष्टयी को भी है। प्रसाद, पन्त आदि की जो साहित्य-चिन्तन की दृष्टि थी वही वह आधार भूमि है जिस पर इस सौष्ठववादी समीक्षा-पद्धति का भवन खड़ा हुआ है। कालक्रम से इस पद्धति के सर्वप्रथम आलोचक प्रसाद जी हैं। `इन्दु` में प्रसाद जी ने अपने काव्य-समीक्षा-सम्बन्धी जो विचार व्यक्त किए थे उनसे उनका सौष्ठव-वादी दृष्टिकोण स्पष्ट ही है। प्रसाद जी की प्रतिभा सर्वतोन्मुखी है। उन्होंने कविता, कहानी, नाटक, निबन्ध आदि से हिन्दी-साहित्य को सहयोग दिया[1]।

प्रसाद जी साहित्य और दर्शन के प्रौढ़ विद्वान थे। उनकी सौन्दर्यवादी दृष्टि के साथ शास्त्रीय दृष्टि की भी भलक द्रष्टव्य होती है। प्रसाद जी की रीतिकालीन के प्रति अच्छी दृष्टि नहीं थी, परन्तु यह कहना निरर्थक न होगा कि वे उससे बच नहीं पाये। जयशंकर प्रसाद जी के `आंसू` नामक कविता में रीतिकाल की भलक स्पष्ट दिखाई देती है।

प्रसाद जी काव्यास्वाद को समाधि-सुख के तुल्य ही समझते हैं और काव्यानन्द को प्रेय और श्रेय का सम्मिश्रण मानते हैं[2]। प्रसाद जी को

१- पराग-मकरन्द की लूट, उषा के कपोल पर लज्जा की लाली, आकाश और पृथ्वी के अनुरागमय परिरम्भ, रजनी के आंसू से भीगे अम्बर, चन्द्रमुख पर शरद घन के सरकते अवगुण्ठन, मधुमास की मधुवर्षा और भूमती मादकता इत्यादि पर अधिक दृष्टि जाती थी। —इतिहास : पृ०-७५६

२- काव्य कला तथा अन्य निबन्ध : पृ०-३८

अनुभूति की प्रधानता ही मान्य है। वे कहते हैं कि अनुभूति ही अभिव्यक्ति हो जाती है : व्यंजना वस्तुत: अनुभूतिमयी प्रतिभा का स्वयं परिणाम है। क्योंकि सुन्दर अनुभूति का विकास सौन्दर्यपूर्ण होगा ही। कवि की अनुभूति को उसके परिणाम में हम अभिव्यक्ति देखते हैं[1]। इसमें उन्होंने अभिव्यक्ति एवं अनुभूति का अभिन्न सम्बन्ध स्थापित किया है। अनुभूति की तीव्रता और सौन्दर्य अभिव्यक्ति को कृमित: प्रभावित करते हैं। प्रसाद जी सुन्दर अभिव्यक्ति के पीछे सुन्दर अनुभूति को आवश्यक मानते हैं। प्रसाद जी की दृष्टि से सुन्दर अनुभूति के अभाव में अभिव्यक्ति का सौन्दर्य सम्भव ही नहीं। इस प्रकार प्रसाद जी कवि के व्यक्तित्व का उसके परिपेष्ठन से सम्बन्ध स्थापित करते हैं[2]।

(२) सुमित्रानन्दन पन्त :

पन्त जी में भावयित्री प्रतिभा की अपेक्षा कारयित्री प्रतिभा ही अधिक है। नवीन प्रकार की छायावादी कविता में जब चारों तरफ से विरोध प्रारम्भ हुआ, तो उस नवजात शिशु की रक्षा के लिये पन्त जी को आलोचना का शस्त्र ग्रहण करना पड़ा। `पल्लव` की भूमिका के रूप में उनका यह प्रयास हिन्दी साहित्य के पाठकों के सम्मुख प्रस्तुत हुआ। इस भूमिका में उन्होंने समीक्षा की नवीन विचारधारा को अपनाने की

१- काव्य कला तथा अन्य निबन्ध : पृ०- ४४

२- हिन्दी आलोचना उद्भव और विकास:डा० भगवतस्वरूप मिश्र,पृ०-४५२-५३

आवश्यकता पर ज़ोर दिया है। पन्त जी का विकास भावात्मकता से बौद्धिकता की ओर हुआ। वे छायावाद से बौद्धिक और सांस्कृतिक क्रान्तिवाद तथा भारतीय-साम्यवाद की ओर बढ़ रहे हैं। इसलिए उन्होंने 'आधुनिक कवि' की भूमिका में अपनी बुद्धिवादिता का विश्लेषणात्मक परिचय दिया है, जो उनकी कविताओं के समझने में यथेष्ठ सहायक हैं।

'पल्लव' की भूमिका यह स्पष्ट कर देती है कि कवि का प्रसुप्त आलोचक जाग उठा है। आलोचक और कवि में कोई अन्तर नहीं। फिर पन्त जी में तो प्रौढ़ कारयित्री प्रतिभा थी। उन्होंने हिन्दी-साहित्य की बदलती हुई परिस्थितियों की ओर जो संकेत किया है, रीतिकाल की काव्यधारा की मूल प्रेरणा तथा तुलसी और सूर के महत्व का जो विश्लेषण किया है, उससे उनके भावक रूप की क्षमता भी स्पष्ट हो गई है। रीतिकाल की प्रवृत्तियों का परिचय देते हुए पन्त जी कहते हैं : " भाव और भाषा का ऐसा शुष्क प्रयोग, राग और छन्दों की ऐसी एकस्वर रिमझिम, उपमा तथा उत्प्रेक्षाओं की ऐसी दादुरा वृत्ति, अनुप्रास एवं तुकों की ऐसी अशान्त उपल-वृष्टि क्या संसार के और किसी साहित्य में मिल सकती है[1]।" इन पंक्तियों में रीतिकाल की विशेषताओं का परिचय तो है पर आलोचक के लिए अपेक्षित सहानुभूति का अभाव है। इन प्रवृत्तियों के कारणों की उद्भावना अपेक्षित थी, हेयता की व्यंजना नहीं। सम्भवत: आलोचना में क्रांति उपस्थित करने के लिए पन्त जी को

१- पल्लव की भूमिका : सुमित्रानन्दन पन्त, पृ०- ८, ९

यह आवश्यक प्रतीत हुआ ।

पन्त जी की भाषा सम्बन्धी आलोचना की ओर भी ध्यान आकृष्ट हुआ है। उसमें स्वच्छन्दतावादी एवं सौष्ठववादी चेतना अत्यन्त स्पष्ट है। पन्त जी ने छायावादी काव्य-चेतना का बदले हुए परिप्रेक्ष्य में मूल्यांकन किया है। प्रगतिवादी समीक्षा को भी सम्प्रदायवाद से ऊपर उठाकर स्वस्थ एवं भारतीय स्वरूप धारण करने की प्रेरणा दी है।

(३) महादेवी वर्मा :

महादेवी जी ने अपने कविता-संग्रहों की भूमिकाओं तथा फुटकर लेखों में अपने आलोचक रूप को स्पष्ट कर दिया है। उन्होंने साहित्य-दर्शन और काव्य की गतिविधि पर विचार किया है। वे काव्य को रहस्यानुभूति मानती है। " सत्य काव्य का साध्य है और सौन्दर्य उसका साधन है। एक अपनी एकता में असीम रहता है और दूसरा अपनी अनेकता में अनन्त। इसी के साधन के परिचय स्निग्ध, स्वप्न रूप से साध्य की विस्मय भरी अखण्ड स्थिति पहुंचने का क्रम आनन्द की लहर-लहर पर उठता चलता है। " इस उद्धरण से सुश्री महादेवी जी ने कविता के स्थूल विधि-निषेधों से ऊपर उठकर चरम मंगल को अपना लक्ष्य बनाता है,जिसमें सौन्दर्य का भी सामंजस्य है। कविता का यह दृष्टिकोण बुद्धिवाद की जड़ता से अभिभूत नहीं अपितु रस के माधुर्य से परिप्लावित है। महादेवी जी के

काव्य-सम्बन्धी विचार बहुत कुछ रवीन्द्र से मिलते है। उनकी दृष्टि से काव्य का आनन्द ऐन्द्रिकता की परिस्थितियों का अतिक्रमण करके पूर्ण मंगलमय हो जाता है। महादेवी जी पूर्ण सामंजस्य और संतुलन की ओर बढ़ती हुई प्रतीत हो रही है, पर अभी कहीं-कहीं वे स्थूल नैतिकता का आभास भी दे जाती हैं[1]।

वस्तुतः यदि देखा जाय तो जयशंकर प्रसाद जी एवं महादेवी जी आदि छायावादी कवि रीतिकाल से प्रभावित थे परन्तु इसके पश्चात् भी इन्होंने रीतिकाल को अच्छी दृष्टि से नहीं देखा और कटु आलोचनाएं कि इस प्रकार इनकी दृष्टि भी रीतिकाल के प्रति अच्छी नहीं रही परन्तु इस काल के कवियों की बहुत सी रचनाएं रीतिकाल से ही प्रभावित थीं जिसमें जयशंकर प्रसाद जी के 'आंसू' नामक कविता तथा महादेवी द्वारा रचित आधुनिक साहित्य की भूमिका में यह कविता इस प्रकार है :

निशा को धो देता राकेश।
चांदनी में जब अलके खोल।
कली से कहता था मधुमास।
बता दे मधु मदिरा का मोल[2]।।

इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि वास्तविकता तो यह है कि महादेवी जी

१- हिन्दी आलोचना उद्भव और विकास : भगवतस्वरूप मिश्र,पृ०-४५६
२- आधुनिक साहित्य की भूमिका : महादेवी वर्मा

भी रीतिकाल से प्रभावित थीं ।

तुर्का महादेवी जी ने काव्य की आधुनिक गतिविधि पर भी विचार किया है । उन्होंने छायावाद और प्रगतिवाद पर भी अपने विचार प्रकट किये हैं । उन्होंने छायावाद और प्रगतिवाद की स्वच्छन्दता, सर्ववाद-करुण- व्यापक चेतना पर अपनी व्यष्टि का आरोप, अमूर्त और मूर्त का सामंजस्य, प्रकृति को प्रधान भावभूमि के रूप में ग्रहण करना, कवि का अन्तर्मुख होना आदि विशेषताओं की ओर संकेत करता है । इससे स्पष्ट हो जाता है कि उनकी आलोचना की दृष्टि कितनी तीव्र थी । महादेवी जी की प्रधान देन प्रयोगात्मक आलोचना नहीं, अपितु साहित्य- दर्शन की सौन्दर्य और मंगल के सामंजस्य वाली व्याख्या है । यही व्याख्या प्रसाद की है पर वह शास्त्री और बुद्धिवादी अधिक है, जबकि महादेवी जी में स्वानुभूति की प्रधानता है, इसलिए इनकी शैली सर्वत्र ही भावात्मक है[1]।

(४) <u>डॉ० नन्ददुलारे वाजपेयी :</u>

स्वच्छन्दतावादी समीक्षा- पद्धति के प्रधान प्रतिनिधि तथा तलस्पर्शी समालोचक के रूप में हिन्दी - साहित्य वाजपेयी जी से परिचित है । वाजपेयी जी ने द्विवेदी काल के उत्तरार्द्ध में समीक्षा - क्षेत्र में प्रवेश किया था । इनकी समीक्षा के प्रारम्भिक प्रयास सरस्वती " आदि पत्रिकाओं में प्रकाशित होते रहते थे । संवत् १९८५ में मिश्रबन्धुओं द्वारा सम्पादित

१- हिन्दी आलोचना:उद्भव और विकास:डा० भगवतस्वरूप मिश्र, पृ०-४१६

` साहित्य-समालोचक ` में इन्होंने ` समालोचना ` नामक निबन्ध लिखा था। इसमें उन्होंने द्विवेदी-दल और मिश्रबन्धु-दल की चर्चा की है। इनका अभिप्राय आलोचकों की दलबन्दी से है। इसी लेख में इन्होंने ` वाल्टर पेटर ` और ` एडीसन ` आदि के आलोचना सम्बन्धी विचार उद्धृत किये हैं।" वाजपेयी जी शुक्ल जी की अमूल्य निधि को लेकर जिस पर उनका पूर्ण अधिकार है, आगे बढ़ते हैं और हिन्दी साहित्य में नवीन अध्याय प्रारम्भ करते हैं। इस उपक्रम में पन्त, निराला, पं० इलाचन्द्रजोशी, गंगाप्रसाद पाण्डेय आदि हैं। वाजपेयी जी की आलोचना समय की दृष्टि से समकालीन होते हुए भी प्रगति की दृष्टि से आगे की अवस्था मानी जा सकती है। वाजपेयी जी को रसवाद का सिद्धान्त मान्य है। रस को काव्य की मूलभूत वस्तु मानते हुए भी वे उसके ब्रह्मानन्द सहोदरत्व अथवा अलौकिकता से सहमत नहीं प्रतीत होते हैं। अलौकिकता एवं ब्रह्मानन्द सहोदरत्व का जो अर्थ प्राचीन आचार्यों ने लिया था, उसी अर्थ में इनके खण्डन की आवश्यकता नहीं है। वाजपेयी जी भावुकता में बहने वाले समीक्षक नहीं हैं। वे सौष्ठववादी चिन्तक हैं। वे साहित्य को जीवन निरपेक्ष रूप में नहीं देखना चाहते इस प्रकार उनमें उदार प्रगतिवादी दृष्टि भी है। यही कारण है उन्होंने कहा है कि रसानुभूति-सम्बन्धी अलौकिकता के पाखण्ड से काव्य का अनिष्ट ही हुआ है[१]। उससे वैयक्तिकता की वृद्धि हुई है और सांस्कृतिक ह्रास हुआ है। उनकी यह मान्यता है कि

१- हिन्दी साहित्य : बीसवीं शताब्दी; पं० नन्ददुलारे वाजपेयी, पृ० ६७

रस-सिद्धान्त को इतना विशद और व्यापक रूप प्रदान किया जा सकता है। वाजपेयी जी के रस-सम्बन्धी दृष्टिकोण से स्पष्ट है कि वे अभिव्यंजनावादी नहीं हैं, वे काव्य में अनुभूति की तीव्रता को ही प्रधान मानते हैं। अभिव्यंजना को निम्न स्तर की वस्तु मानते हैं। काव्य अथवा कला का सम्पूर्ण सौन्दर्य अभिव्यंजना का ही सौन्दर्य नहीं है, अभिव्यंजना काव्य नहीं है। काव्य अभिव्यंजना से उच्चतर तत्व है। उसका सीधा सम्बन्ध मानव-जगत् और मानव वृत्तियों से है, जबकि अभिव्यंजना का सीधा सम्बन्ध सौन्दर्य प्रकाशन से है। उनका कहना है कि कविता अपने उच्चतम स्तर को पहुंचकर अलंकारविहीन हो जाती है। कविता जिस स्तर पर पहुंच कर अलंकारविहीन हो जाती है, वहां वह वेगवती नदी की भांति हाहाकार करती हुई हृदय को स्तम्भित कर देती है। उस समय उसके प्रवाह में अलंकार ध्वनि-वक्रोक्ति आदि न जाने कहां बह जाते हैं और सारे सम्प्रदाय न जाने कैसे मटियामेट हो जाते हैं[२]। वाजपेयी जी तो यहां तक कहते हैं--" इस प्रकार की उत्कृष्ट कविता में अलंकार वही कार्य करते हैं जो दूध में पानी[३]।"

वाजपेयी जी को काव्य की स्थूल उपयोगिता मान्य नहीं है। वे काव्य में जीवन की प्रेरणा, सांस्कृतिक चेतना और भावनाओं के परिष्कार की क्षमता मानते हैं। वे कहते हैं कि " मेरी समझ में इसका सीधा उत्तर

१- हिन्दी साहित्य : बीसवीं शताब्दी; आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी, ६८

२- वही, पृ०- ५६

है कि महान् कला कभी अश्लील नहीं हो सकती। उसके बाहरी स्वरूप में यदा-कदा श्लील-अश्लीलता सम्बन्धी रूढ़ आदर्शों का व्यतिक्रम भले ही हो और क्रान्तिकाल में ऐसा हो भी जाता है, पर वास्तविक अश्लीलता, मर्यादा या मानसिक अस्खलन उसमें नहीं हो सकता। साहित्य सदैव सबल सृष्टि का ही हिमायती होता है[१]। " काव्यशास्त्र के तत्वों से ऊपर उठकर सौन्दर्य का उद्घाटन ही उनकी दृष्टि से आलोचक का प्रधान कार्य है[२]। " वाजपेयी जी की आलोचना पद्धति एक प्रकार से सर्वांगीण है। उसमें कवि के व्यक्तित्व, अनुभूति और अभिव्यक्ति के सौष्ठव के साथ ही चरित्र-चित्रण, वस्तु काव्य-शैली और पाश्चात्य तत्वों पर भी विचार हुआ है। वाजपेयी जी कला और कलाकार की सामाजिक पृष्ठभूमि तथा दार्शनिक चिन्तन का आकलन करते हुए कला-वस्तु और कलाकार के जीवन में समन्वय स्थापित करने का प्रयत्न करते हैं। वाजपेयी जी के आलोचक का एक विशेष व्यक्तित्व तो बन गया है, पर अभी वह विकासशील है। प्रगतिवादी और मनोविश्लेषणात्मक आलोचना की ओर भी उनका ध्यान गया है। पर इन शैलियों में उनका सत्य का आंशिक रूप ही दिखाई पड़ता है।

पण्डित नन्ददुलारे वाजपेयी जी ने आधुनिक साहित्य नामक ग्रन्थ लिखा जो आलोचना की दृष्टि से अत्यधिक महत्वपूर्ण है उसमें छायायुगीन कवियों एवं नई कविता तथा उपन्यासकारों की आलोचना की है। वाजपेयी जी

१- हिन्दी साहित्य : बीसवीं शताब्दी : आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी पृ०३३

२- वही, पृ०-७४

कहते हैं कि प्रेमचन्द्र जी के उपन्यासों में नारी और पुरुष- दृष्टि के बीच संतुलन है। तथा उनकी दृष्टि आदर्शवादी तथा सामाजिक थी[1]। इस प्रकार अनुमानत: वाजपेयी जी प्रगति का तात्पर्य भावों की सार्वजनिकता तथा जीवन सन्देश की सर्वं व्यापकता से लेते हैं। पर उनका यह रूप अभी पूर्णत: स्पष्ट नहीं है। प्रगतिवाद के प्रति उनकी प्रतिक्रियाएं क्या सारे साहित्य की ही प्रतिक्रियायें कही जा सकती हैं, यह अभी पूर्णत: निश्चित नहीं है।

(२) डा० नगेन्द्र :

डा० नगेन्द्र भी इसी पद्धति के प्रधान समालोचकों में से हैं। उनकी साहित्य- सम्बन्धी मान्यताएं प्राय: वे ही हैं जिनका निरूपण हम इस पद्धति के सामान्य स्वरूप तथा वाजपेयी जी के प्रसंग में कर आए हैं। नगेन्द्र जी का काव्य- बोध ही मूलत: छायावादी है। वे न तो छायावाद से पूर्व के इतिवृत्तात्मक काव्यमें रम पाये और न ही छायावाद काल के बाद प्रगतिवाद, प्रयोगवाद एवं नई कविता के नये भाव- बोध तथा नयी अभिव्यंजना शैली में कवित्व देख पाये। इसी ने उनको ` रस ` की ओर आकृष्ट किया। उस सौष्ठववादी काव्य चेतना को आत्म-सात् करने के कारण भारतीय एवं पाश्चात्य काव्य- दर्शन के समन्वय में ही नगेन्द्र जी की मूल आस्था जम सकी। यही आस्था सौष्ठववाद एवं स्वच्छन्दतावाद की आधारभूत चेतना है। वे साहित्य को व्यक्ति की चेतना का परिणाम

१- आधुनिक साहित्य : आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी, पृ०- १५

समझते हैं। रस शब्द से उनका भी तात्पर्य वही है, जो इस सम्प्रदाय के आलोचक मानते आये हैं। वे रस शब्द को संवेदनीयता के अर्थ में प्रयुक्त करते हैं। कवि की आत्माभिव्यक्ति उनकी भावुकता तथा बौद्धिकता में, दोनों का समावेश है। वे साहित्य का उद्देश्य प्रधानतः रसानुभूति या आनन्द ही मानते हैं। जीवन साहित्य से प्रेरणा ग्रहण करके अग्रसर होता है, यह उन्हें मान्य है। पर काव्य की आत्मा रस है, इसमें उनका अटल विश्वास है।

नगेन्द्र जी प्रयोगात्मक आलोचना की अपेक्षा समीक्षा सम्बन्धी मान्यताओं में सौष्ठववादी अधिक कहे जा सकते हैं। उन्होंने आलोचना की जो शैली अपनाई है वह बाजपेयी जी की अपेक्षा शुक्ल जी के अधिक सन्निकट है। पन्त जी के चिन्तन और मानस- विकास का अच्छा मनोवैज्ञानिक अध्ययन हुआ है। नगेन्द्र जी ने मनोवैज्ञानिक शैली का पर्याप्त प्रयोग किया है और यही उनकी शैली की प्रधान विशेषता भी है। पर काव्य-वस्तु, भाव- व्यंजना, भाषा- शैली आदि की दृष्टि से किए गए उनके अधिकांश विवेचन का शुक्ल- पद्धति में अन्तर्भाव मानना असमीचीन नहीं है। कलाकार के व्यक्तित्व के मनोवैज्ञानिक अध्ययन तथा समीक्षा की मान्यताओं के आधार पर वे कुछ नवीन समीक्षा- पद्धति के समर्थक माने जा सकते हैं— वरना तो इनकी शैली में शुक्ल पद्धति के तत्व अधिक प्रबल हैं। उनका देव का अध्ययन इसी शैली का एक बृहत् ग्रन्थ है। इसमें देव के ग्रन्थों का परिचय है कवि की विशेषताओं का विश्लेषण करते समय उन्होंने शृंगार तथा उसके भेदों को ही दृष्टि में रखा है।

कहीं-कहीं उनकी अनुभूति आदि का विश्लेषण हुआ है,जिसमें साधारणत: निगमनात्मक शैली का अभाव भी मिल जाता है[1]। देव की रूप और सौन्दर्य-सम्बन्धी धारणाओं का भी निरूपण है। उनके आधार पर देव की कविता का अध्ययन हुआ है। पर प्राय: काव्यांग, संचारीभाव आदि ही आलोचना के आधारभूत तत्व रहे हैं। देव में ही नहीं,अपितु पन्त जी की कविता में भी मनोदशाओं के चित्रण की ओर नगेन्द्र जी का ध्यान अधिक गया है। `सरल मौग्ध` या `किशोर-तारल्य` का उदाहरण देकर शुक्ल जी की तरह कितना-मुग्धकारी भी कहा है[2]। कहने का तात्पर्य केवल यह है कि इनकी शैली में शुक्ल-पद्धति का स्पष्टत: अनुसरण है, और उन तत्वों के दर्शन होते हैं जिन्हें सौष्ठववादी पद्धति के अन्य आलोचकों ने नहीं अपनाया। लेकिन साथ में ही इनमें व्यक्तित्व का विश्लेषण करने वाली प्रवृत्ति भी है। वहां पर भी आलोचक का ध्यान कलाकार के सम्पूर्ण व्यक्तित्व पर न जाकर केवल कतिपय विशेषताओं पर ही गया है। नगेन्द्र जी की समीक्षा-पद्धति शुक्ल-समीक्षा का वह विकास है जिसने छायावादी काव्य-चेतना को आत्मसात् करके सौष्ठववादी, मनोवैज्ञानिक एवं मनोविश्लेषणात्मक तत्वों का भी समाहार कर लिया है। नवीन दृष्टिकोण से नगेन्द्र जी की समीक्षा का बहुत बड़ा गुण मनोवैज्ञानिक विश्लेषण है। इस प्रकार व्यक्ति, कला-कृति और सिद्धान्तों का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण इनकी समीक्षा की प्रधान विशेषता

१- रीतिकाल और देव ,शृंगार वर्णन का अध्याय : डा० नगेन्द्र

२- सुमित्रानन्दन पन्त, डा० नगेन्द्र, पृ०-३२-३३

है। नगेन्द्र जी पर मनोविश्लेषण-शास्त्र के सिद्धान्तों का थोड़ा प्रभाव है, उसके तत्वों का उन्होंने कुछ उपयोग भी किया है। पर उन्हें मनोविश्लेषण समीक्षक कहना समीचीन नहीं। वे मूलत: रसवादी समीक्षक हैं, पर उन्होंने रस को व्यापक अर्थ में ग्रहण किया है। उसमें उन्होंने काव्यगत सम्पूर्ण भाव- सम्पदा का अन्तर्भाव माना है। संवेदन, स्पर्श, चित्त- विकार, संस्कार आदि रागात्मक अनुभूति के सभी प्रकारों का इसमें अन्तर्भाव है। ` रस समीक्षा ` नगेन्द्र जी के आलोचक रूप की उपलब्धि है। भारतीय एवं पाश्चात्य काव्य सिद्धान्तों का पुनराख्यान, भारतीय दृष्टि से उनमें समन्वय के सफल प्रयास एवं सार्वभौम भारतीय मापदण्ड के खोज के सूक्ष्म प्रयास नगेन्द्र जी के आलोचक रूप की आज तक की सशक्त उपलब्धियां हैं। अगर उनके आलोचक में समाजशास्त्रीय एवं सांस्कृतिक दृष्टि का उन्मेष और हो जाता तो काव्यालोचन के अधिक प्रौढ़ व्यापक एवं सर्वांगीण रूप के दर्शन होने लगते। नगेन्द्र जी का आलोचक एवं काव्यशास्त्रज्ञ रूप चिर-विकासशील रहा है। वह अभी विकासमान है। डा० दीनदयाल गुप्त, डा० माताप्रसाद गुप्त, पं० विश्वनाथ मिश्र, डा० देवराज उपाध्याय आदि में मनोवैज्ञानिक और ऐतिहासिक शैलियों का जो प्रौढ़ रूप दृष्टिगत होता है, वह इस पद्धति के प्रभाव से असम्पृक्त नहीं है। उसमें वस्तु के तात्विक विवेचन तथा कवि की विचारधाराओं के विश्लेषण की बढ़ती हुई प्रवृत्ति भी इसकी द्योतक है[१]।

नगेन्द्र जी ने अपने ग्रन्थ ` देव और उनकी कविता ` नामक शोध-प्रबन्ध में तीनों दृष्टियों पर विचार किया है। इसका हम आगे उल्लेख करेंगे।

१- हिन्दी आलोचना उद्भव और विकास: डा० भगवतस्वरूप मिश्र, पृ०-४७६

मनोवैज्ञानिक दृष्टि

हिन्दी में मनोवैज्ञानिक दृष्टि का उपयोग तो प्राय: सभी समालोचकों ने किया है। कलाकार के व्यक्तित्व का अध्ययन इसी शैली से हुआ है। शुक्ल जी से लेकर परवर्ती-काल के सभी समालोचकों में इस शैली के दर्शन होते हैं। पर मनोविश्लेषणात्मक शैली की समालोचनाएं हिन्दी में कम हैं।

डा० नगेन्द्र जी की समीक्षात्मक दृष्टि सौन्दर्यवादी, मनोवैज्ञानिक तथा समाजशास्त्रीय थी। परन्तु हमने नगेन्द्र जी के 'देव और उनकी कविता' नामक शोध-प्रबन्ध ग्रन्थ को इसी खण्ड में रखा है।

डा० नगेन्द्र के अनुरूप संस्कृत साहित्यशास्त्र और आधुनिक मनोविज्ञान दोनों एक ही पीठिका पर प्रतिष्ठित हैं। इस सम्बन्ध में उनका कथन है— "संस्कृत साहित्यशास्त्र का विवेचन आधुनिक मनोविज्ञान के विवेचन से तत्वत: भिन्न नहीं है। मनोविज्ञान के अनुसार 'भाव'—किसी वासना (सहज प्रकृति) के चारों ओर केन्द्रित मनोविकार है, जीवन की एक प्रमुख वासना है काम— मिलनेच्छा। काम पर आश्रित मनोविज्ञान ही शृंगार या रति है। प्रत्येक भाव के दो पक्ष होते हैं— एक, मानसिक— दूसरा, शारीरिक। मानसिक चेतना के अन्तर्गत आत्मचेतना के अतिरिक्त जो वास्तव में भाव की केन्द्रीय चेतना है, तीन तथ्य विचारणीय हैं :

(१) भाव का कारण—व्यक्ति, वस्तु अथवा परिस्थिति जिसे साहित्यशास्त्र में आलम्बन कहा गया है।

(२) भाव का अनुभूत्यात्मक रूप—जो सुखमय, दु:खमय अथवा मिश्र हो सकता है ।

(३) विभिन्न परिवर्तित भाव रूप— जो उसके विकास का सहकरण करते हैं। ये ही वास्तव में साहित्य के संचारी हैं[१]।

शारीरिक पक्ष में :

(१) ऐन्द्रिय संवेदनाएं :

जो सात्विक भावों से अधिक भिन्न नहीं हैं।

(२) बाह्य शारीरिक चेष्टाएं :

जिन्हें साहित्यशास्त्र में `अनुभाव` कहते हैं। शृंगार या रति का कारण अर्थात् आलम्बन है स्त्री अथवा पुरुष (नायक-नायिका), अनुभूति मूलत: सुखद है। (इसीलिए विश्वनाथ ने शृंगार को सत्प्रकृति कहा है), परिवर्तित भाव-रूप, असूया, हर्ष आदि हैं; ऐन्द्रिय संवेदनाएं, रोमांच, स्वरभंग, विवर्णता, स्वेद-अश्रु आदि हैं, और शारीरिक चेष्टाएं हैं स्मिति कटाक्ष, चुम्बन, आलिंगन आदि। मनोविज्ञान की दृष्टि से रति काम पर अन्तिम भाव-विशेष है, (और काम अर्थात् मिलनेच्छा पर आश्रित होने के कारण वह सहज ही एक प्रकार का उन्मुखी भाव है—रागात्मक भाव है) जो हर्ष, असूया,

---

१-देव और उनकी कविता : डा० नगेन्द्र; पृ०-८२

आदि सहचारी भावों को जन्म देकर उनसे पुष्ट होता हुआ रोमांच, स्वरभंग आदि सूक्ष्म ऐन्द्रिय संवेदनों और स्मिति, कटाक्ष, चुम्बन, आलिंगन, रति आदि स्थूल शारीरिक क्रियाओं में अभिव्यक्त होता है। मनोविश्लेषण में इसी तथ्य को थोड़े भिन्न शब्दों में कहा गया है। यहां जीव की मूल वृत्ति मानी गयी है काम (Libido); प्रेम इसी मूल वृत्ति का एक परिमित अंश है जो दमन और कुण्ठाओं के प्रभाववश विभिन्न सरणियों में प्रेरित होता रहता है[1]। साहित्य में आरम्भ से ही शृंगार-रस को सबसे अधिक महत्व मिला[2]।

उत्तमता की दृष्टि से शृंगार रस सर्वश्रेष्ठ है। शृंगार का स्थायी भाव रति अथवा प्रेम है। आध्यात्मिक दृष्टि से स्त्री-पुरुष का प्रेम प्रकृति और पुरुष की प्रणयलीला का प्रतिबिम्ब है। वह सृष्टि-विकास की अनिवार्य आवश्यकता है। जीवन की स्फूर्ति, सत्प्रेरणाएं, भक्ति और धर्म, साहित्य और कला सभी के मूल में प्रेम की प्रेरणा है। जीवन का सबसे बड़ा अभिशाप अहंकार है, और अहंकार का सबसे अमोघ उपचार है प्रेम, जिसके सत्प्रभाव से मनुष्य मृत्यु की भीति से विचलित नहीं होता। मनोविज्ञान की दृष्टि से प्रेम में मनोवृत्तियों के समीकरण की अद्वितीय शक्ति है, इस कारण वह आनन्द का पर्याय है। जीवन की आत्मार्थिनी और परार्थिनी वृत्तियों का इतना पूर्ण समन्वय किसी अन्य मनोदशा में सम्भव नहीं है[3]।

१- देव और उनकी कविता : डा० नगेन्द्र, पृ०- ८२

२-३ वही, पृ०- ८२, ८४ क्रमश:

डा० नगेन्द्र जी भारतीय दर्शन की दो मौलिक प्रवृत्तियां मानते हैं। इस सन्दर्भ में उनका कथन है कि— " भारतीय दर्शन के अनुसार जीव की दो मौलिक प्रवृत्तियां मानी गई हैं : राग और द्वेष। इनमें वास्तव में द्वेष, राग का वैपरीत्य ही है, स्वतन्त्र वृत्ति नहीं है। इस प्रकार जीवन की मौलिक वृत्ति राग अथवा रति ही है, विदेश में भी प्रसिद्ध मनस्तत्ववेत्ता " फ्रायड " का मत बिल्कुल यही है। उसके मतानुसार भी जीवन की दो मूल वृत्तियां हैं : एक जीवन की ओर उन्मुख है, दूसरी विनाश की ओर। ये दोनों वृत्तियां " इरॉस " और " थैनेटॉस " भी वास्तव में राग और द्वेष की ही पर्याय हैं। इन दोनों में भी पहली अर्थात् इरॉस या राग ही मूल वृत्ति है। विनास तो जीवन का वैपरीत्य मात्र है : इसी रागात्मक वृत्ति को वहां लिबिडो या काम कहा गया है, जो " फ्रायड " आदि मनस्तत्व के आचार्यों ने उसको जीवन की संचालिका माना है। भारतीय दर्शन में भी काम की ऐसी ही महिमा कही गई है? वेद का प्रमाण स्पष्ट है—

काम स्वायं पुरुष: ।

वात्स्यायन के अनुसार :

श्रोत्रत्वक्चक्षु: जिह्वाघ्राणानामात्मसंयुक्तेन मनसाधिष्ठितानाम् स्वेषु स्वेषु विषयेष्वानुकूल्यान्त: प्रवृत्ति: काम: । (कामसूत्र १,२ ।वात्स्यायन)[१]

अर्थात् कान, त्वचा, आंख, जिह्वा और नासिका— ये पांचों

१- कामसूत्र : सच्चिदानन्द हीरानन्द वात्स्यायन " अज्ञेय " : पृ० - १,२

इन्द्रियां— अपने-अपने कार्यों में मन की प्रेरणा के अनुसार काम के द्वारा ही प्रवृत्त होती हैं। गाम्भीर्य और तीव्रता के विचार से भी शृंगार-भावना का स्थान सर्वोच्च है[1]।

अन्य रसों एवं भावों की अपेक्षा शृंगार की परिधि भी अत्यधिक व्यापक है। मानव-हृदय के दोनों प्रकार के भाव- सुखात्मक एवं दुःखात्मक— इसके अन्तर्भूत हो जाते हैं। शास्त्र के अनुसार भी शृंगार का क्षेत्र सबसे अधिक व्यापक है; इसके संचारियों की संख्या सभी से अत्यधिक है; केवल चार संचारी ही ऐसे हैं, जो इसको पुष्ट करने में असमर्थ हैं। 'केशव' और 'देव' आदि ने तो नौ रसों को ही शृंगार का अंग बना दिया है। वास्तव में जैसा कि 'भोजराज' ने कहा है, हमारे अहंकार-वृत्ति के ही प्रोद्भास हैं। रस में जो आस्वादित होता है, वह यही अहंकार है। इसी को प्रवृत्ति अथवा रति कहते हैं—अतएव सभी शृंगार के अन्तर्भूत हैं[2]।

(i) शृंगार के दो पक्ष :

संयोग और वियोग ; शृंगार के दो भेद बताए गए हैं। संयोग में आश्रय— आलम्बन का मिलन रहता है, अतएव वह सुखात्मक है। रूप वर्णन अर्थात् नख-शिख एवं आभूषण-वर्णन, हाव-चित्रण, अष्टयाम, उपवन, उद्यान, जलाशय, आदि के क्रीड़ा-विलास, परिहास-विनोद इसके

१- देव और उनकी कविता : डा० नगेन्द्र, पृ०- ८५

२-वही,पृ०- ८६

अन्तर्गत आते हैं। वियोग में प्रेमी-प्रेमिका का विच्छेद रहता है, अतएव स्वभावतः वह दुःखात्मक है। उसके चार भेद डा० नगेन्द्र जी ने बताए हैं— पूर्वराग, मान, प्रवास और करुणा। पूर्वराग संयोग से पहले उत्पन्न होने वाले प्रणय की आकुलता है। मान, किसी अपराध के कारण प्रायः नायिका के रूठ जाने को कहते हैं, (हिन्दी कवियों ने नायक रूठ जाना भी वर्णित किया है); प्रवास में नायक का विदेश-गमन होता है, करुण में किसी आधिदैविक अथवा अन्य प्रबल व्यवधान के कारण संयोग की आशा अत्यन्त क्षीण अथवा नष्टप्राय हो जाती है। वियोग के अन्तर्गत कवियों में दस कामदशा, सखी, दूती, बारहमासा आदि का वर्णन करने की परिपाटी है। षड्ऋतु का अन्तर्भाव संयोग-वियोग दोनों में हो सकता है[1]। मनोविज्ञान में अशारीरिक शृंगार एक भिन्न भाव है, उसमें ऐन्द्रिय के साथ बौद्धिकता का भी तत्व स्थायी रूप से वर्तमान रहता है। इस बौद्धिक तत्व के कारण फ्रायड धर्म अथवा भक्ति को शृंगार का उन्नयन कहता है। वास्तव में यदि देखें तो ऐन्द्रिय प्रवृत्ति को स्थूल शरीरधारी व्यक्ति से हटाकर एक सूक्ष्म भाव अथवा अमूर्त आदर्श की ओर प्रेरित करना ही तो उन्नयन की क्रिया है। आलम्बन के अमूर्त और अतीन्द्रिय होने के कारण उसके द्वारा ऐन्द्रिय तृप्ति की सम्भावना न होने से, शृंगार में शारीरिकता का अंश स्वभावतः अनुपात से कम हो जाता है और बौद्धिक तत्व का समावेश हो जाता है। विदेश का प्लेटोनिक लव वास्तव में मनोविज्ञानिक की शब्दावली में बौद्धिक प्रेम ही है[2]।

१-२ देव और उनकी कविता : डा० नगेन्द्र, पृ०- ८६, ९२-९३ क्रमशः

वस्तुत: भक्तिकाल में शृंगार भक्तिमूलक था और उसका सम्बन्ध स्थूल ऐन्द्रियता से नहीं था। किन्तु धीरे-धीरे रीतिकाव्य में आकर शृंगार फिर शारीरिक धरातल पर उतर आया। रीतिकाल का शृंगार न तो आत्मा का परमात्मा की ओर उन्मुखी भाव है और न धर्माचरण अथवा सन्तति के निमित्त स्त्री-पुरुष का शास्त्र-सम्मत संयोग है— वह तो स्पष्ट ही सहज आकृष्ट स्त्री-पुरुष का ऐन्द्रिय धर्म है—जिसमें कोई नैतिक अथवा आध्यात्मिक ग्रन्थि नहीं है। वह किसी अन्य साध्य का साधन नहीं है, स्वयं अपना साध्य है—यही इस युग की विफलता है। इसी कारण रीतिकालीन शृंगार-भावना प्रेम न होकर विलास रह गई। रीतिकाल के प्रतिनिधि कवि रसिक ही थे प्रेमी नहीं[1]। नगेन्द्र जी कहते हैं कि उनके शृंगार-चित्रों में प्रेम की एकाग्रता न होने से तीव्रता और गम्भीरता प्राय: कम मिलती है, विलास का तारल्य और वैभव ही अधिक मिलता है। घोर सामाजिक और राजनीतिक पतन के इस युग में जीवन बाह्य अभिव्यक्तियों से निराश होकर घर की चहारदीवारी में ही अपने को अभिव्यक्त कर सकता था— घर में इस समय न धर्माचरण था, न शास्त्र-चिन्तन, अतएव अभिव्यक्ति का एक ही माध्यम था— काम। बाह्य जीवन की असफलताओं से आहत मन नारी के अंगों में मुंह छिपाकर विदग्ध-विभोर हो जाता है। इस प्रकार रीतिकाल की शृंगार-भावना में स्पष्ट रूप से शारीरिक रति-काम की स्वीकृति है। उसमें किसी प्रकार की अतीन्द्रियता या अपार्थिवता के लिए स्थान नहीं है; एकान्मुख एवं

१-देव और उनकी कविता : डा० नगेन्द्र, पृ०-६४

एकाग्र न होने से उसमें उत्कटता एवं तीव्रता भी नहीं है, और मूलत: गृहस्थ जीवन की परिधि में बंधे होने से रोमानी साहसिकता और शक्ति का भी अभाव है। वह तो शरीर-सुख और उससे उत्पन्न मन का सुख है, नागरिक जीवन की रसिकता उसका प्राण है, विलास की श्री और समृद्धि उसका अलंकार[१]।

प्रेम के प्रति देव का दृष्टिकोण शुद्ध रीतिकालीन नहीं था। ऐसा नगेन्द्र जी का मत है। इसमें सन्देह नहीं कि देव की अनेक पंक्तियाँ ऐसी हैं जो रीतिकालीन अनेकोन्मुखी रसिकता की ओर, जिसमें विलास का ही प्राधान्य था, परन्तु यह वास्तव में वातावरण का प्रभाव था। स्वभाव से देव की अपनी वैयक्तिक आस्था एकनिष्ठ प्रेम में ही थी। एक तरह से कहा जा सकता है कि उनका प्रेम-विषयक दृष्टिकोण 'बिहारी', 'मतिराम,' 'पद्माकर' आदि शुद्ध रीतिवादी कवियों और दूसरी ओर 'ठाकुर', 'बोधा,' 'घनानन्द' आदि रीतिमुक्त एकनिष्ठ प्रेमी कवियों का मध्यवर्ती था। उनके संयोग-वियोग के वर्णनों में और व्यक्ति का यही मिश्रण सर्वत्र मिलता है[२]।

संयोग के दो मुख्य अंग हैं— एक रूप-वर्णन, दूसरा मिलन— जिसके अन्तर्गत पारस्परिक शरीर-सुख के विनिमय के अतिरिक्त विनोद-विहार आदि भी आते हैं।

१- देव और उनकी कविता : डा० नगेन्द्र, पृ०-६४

२- वही, पृ०-६६

रूप वर्णन को परिभाषित करना तो कठिन है। सौन्दर्य को अनिर्वचनीय कहा गया है— सौन्दर्य वह अनिर्वचनीय 'कुछ' है जो मन को भला लगता है। परन्तु यह शब्दावली अवैज्ञानिक है। मनोवैज्ञानिक की दृष्टि से सौन्दर्य का मूल तत्व सामंजस्य है। यह सामंजस्य पहले वस्तु के विभिन्न अंगों में होता है, फिर वस्तु और व्यक्ति के मन अर्थात् भाव के बीच। वस्तु के विभिन्न अंगों का सामंजस्य, अनुक्रम, अनुपात दूसरे शब्दों में— वस्तुगत सौन्दर्य कहलाता है, और वस्तु और भाव का सामन्जस्य (भावगत सौन्दर्य) ही वह अनिर्वचनीय 'कुछ' है जो भिन्न-भिन्न प्रकार की शब्दावली द्वारा व्यक्त किया गया है। इस दृष्टि से रूप- सौन्दर्य का वह पक्ष है जो नेत्रों के माध्यम से मन का प्रसादन करता है— यह शब्द प्रायः मानव शरीर के सौन्दर्य के लिए प्रयुक्त होता है[१]।

अनुभूति की तीन अवस्थाएं नगेन्द्र जी मानते हैं—

(१) वस्तुगत रूप की अनुभूति— जिसमें वस्तु के विभिन्न अंगों के सामन्जस्य का तटस्थ रूप से ग्रहण मात्र होता है।

(२) रूप- जन्य—मानसिक आनन्द की अनुभूति— इसके मूल में वस्तु और भाव का सामन्जस्य होता है।

(३) रूप के प्रति वासना की अनुभूति। इसमें केवल आनन्द की भावना ही नहीं— वरन् रूप के ऐन्द्रिय उपभोग की वासना का भी गाढ़ा रंग रहता है।

१- देव और उनकी कविता : डा० नगेन्द्र, पृ०- १००

रस शास्त्र की दृष्टि सौन्दर्यानुभूति में विस्मय, आनन्द और रति इन तीनों भावों की पृथक्-पृथक् अथवा सम्मिलित अनुभूति होती है।

रूप चित्रण और रसात्मक चेतना का धरातल :

रीतिकाल के रूप वर्णन मूलत: ऐसी सौन्दर्यानुभूति से प्रेरित है। देव की गम्भीर रसिकता इस क्षेत्र में खूब खुल खेली है। उनके वर्णनों में ऐसा लगता है जैसे कवि की सम्पूर्ण चेतना नारी के अंगों में लिपट-लिपट कर रस स्नात हो जाती है[1]।

मिलन के अन्तर्गत संयुक्त प्रेमियों के समस्त मानसिक और शारीरिक सुख आते हैं। रीति-परम्परा के अनुसार कवि इस प्रसंग में नव-दम्पति की रस चेष्टाएं, सुख, अष्टयाम, विहार आदि का वर्णन करते रहे हैं। वास्तव में रीति-काव्य का यही मुख्य वर्ण्य विषय था। उस युग की आहत चेतना आत्म-विस्मरण के लिए ही तो श्रृंगार-साधना करती था- नायक-नायिका की रस-चेष्टाओं के जो चित्र अंकित किये हैं उनमें मानसिक और शारीरिक सुख का गाढ़ा रंग है। उनमें मन और शरीर दोनों ही तन्मय होकर उत्सव मनाते हैं[2]।

इस उदाहरण में संयोग पूर्ण दिखायी देता है :

१- देव और उनकी कविता : डा० नगेन्द्र, पृ०- १०२

२- वही, पृ०- १०४

दूरि धरो दीपक झिलमिलात झीनो तेज,

सेज के समीप ठहरान्यो तम तोम सो ।

दूलह दुराई बाला केलि के महल गई,

पेलि के पठाई वधू सरद के सोम सो ।

अंक भरि लीन्हीं गहि अंचल को छोरु देव,

जोर के जनावे नवयौवन के जोम सो ।

लाल के अधर लाल अधरनि लागि लागि,

उठी मैन आगि पघिलान्यो मन मोम सो[1] ।।

नायिका लज्जारति मुग्धा है। अभी वह समागम के लिए प्रस्तुत नहीं है, परन्तु सखी की चालाकी से नायक के भुजपाश में फंस जाती है। उसको भी यौवन का घमण्ड है— थोड़ी देर तक दोनों में खींचतान होती है। परन्तु अन्त में नायक के अधरों से उसके अधर लगने के कारण काम की अग्नि प्रज्वलित होती जाती है और उसका मन मोम की भांति पिघल जाता है। नायिका परवश हो जाती है। यह प्रसंग रससिक्त तो है साथ ही मनोवैज्ञानिक की दृष्टि से भी अत्यन्त सटीक है। प्रसिद्ध मनोवेत्ता 'फ्रायड' ने एक ऐसी ही स्थिति का स्पष्टीकरण करते हुए लिखा है कि बलात्कार के समय यदि कोई स्त्री परवश होकर आत्म-समर्पण कर देता है तो प्रकृति का आग्रह है। ऐसी परिस्थिति में, जहां उसका चेतन व्यक्तित्व बलात्कारी का विरोध करता है, वहां उसका अचेतन नारीत्व उसको सहायता करता है। चेतन मन कठोर होकर आक्रान्ता को जितना

ही दूर हटाने का प्रयत्न करता है, अवचेतन नारीत्व उतना ही पिघलता हुआ उसकी ओर बढ़ता जाता है[1]।

नगेन्द्र जी ने देव के कविता में विरह के चार अंग माने हैं—पूर्वराग, मान, प्रवास और करुण। संस्कृत-काव्य-शास्त्र ने संयोग और वियोग का आधार सामीप्य अथवा पार्थक्य, या उपस्थिति अथवा अनुपस्थिति को न मानकर सुख और दुःख को ही माना है। इसलिए तो पूर्वराग और मान का विरह में अन्तर्भाव कर लिया गया है[2]।

देव की रस-चेतना का यही सहज धरातल है। सूक्ष्मता अथवा तीक्ष्णता का उनमें अभाव हो यह बात नहीं, परन्तु मतिराम की तरह सूक्ष्म-तरल भावनाओं से खेलना, अथवा बिहारी की तरह पैनी दृष्टि डालकर सौन्दर्य के वस्तु तन्तुओं को पकड़ना उसकी प्रकृति में नहीं है। गम्भीर आवेग में एक प्रकार की संकुलता अनिवार्य है, और निश्चित ही देव की रस-दृष्टि में वांछित स्वच्छता सर्वत्र नहीं मिलती। आचार्य शुक्ल को जो देव से पेंचीले मज़मून बांधने की शिकायत है, वह बेजा नहीं है, परन्तु इसका कारण कवि की चमत्कारप्रियता इतनी नहीं है जितना कि आवेग को उसकी सम्पूर्ण गम्भीरता और तन्मयता के साथ शब्दों में बांधने का प्रयत्न।

कुल मिलाकर नगेन्द्र जी का विचार है कि परवर्ती साहित्य पर

१-२ देव और उनकी कविता : डा० नगेन्द्र, पृ०- १०४, १०७ क्रमशः

देव का प्रभाव बहुत अधिक नहीं है । परवर्ती रीति-विवेचन पर तो उनका आभार प्राय: नगण्य-सा ही है क्योंकि उन्होंने स्वयं ही लगभग सभी मूल तत्व अपने पूर्ववर्ती आचार्यों से ग्रहण किए थे । केवल वर्णन-विस्तार और कुछ संगतियां उनकी अपनी हैं; परन्तु उनको हिन्दी में विशेष महत्व नहीं दिया गया । उनका विशेष महत्व रस-सिद्धान्त को अधिक व्यापक और मान्य बनाने में है, और उसका थोड़े-बहुत अप्रत्यक्ष प्रभाव बाद के रीतिकारों पर अवश्य . . पड़ा होगा — बस ! कवि रूप में उनका प्रभाव अपेक्षाकृत अधिक है, परन्तु केशव और बिहारी से तुलना करने पर वह भी साधारण ही माना जायेगा । इसका विशेष कारण है । केशव की मूल विशेषता आचार्यत्व और पाण्डित्य है और बिहारी की मुख्य विशेषता है दूर की सूफ तथा चमत्कारपूर्ण कला । इसके विपरीत देव का मुख्य काव्यगुण है तन्मयता एवं आवेग—पूर्ण रसार्द्रता कलाकार वे भी अपने ढंग के हैं, परन्तु उनकी कला अधिक सूक्ष्म-तरल है । तन्मयता की अपेक्षा आचार्यत्व एवं पाण्डित्य तथा चमत्कारितावादि गुणों का अनुकरण सरलता से किया जा सकता है—और यही हुआ भी । रीति-साहित्य का यह दुर्भाग्य रहा कि वह देव के भाव और भाषा की समृद्धि को नहीं अपना सका[1]।

डा० बच्चन सिंह जी की रीतिकालीन के प्रति आलोचना की दृष्टि सौन्दर्यवादी तथा मनोवैज्ञानिक दोनों थी, उन्होंने बिहारी का नया

१- देव और उनकी कविता : डा० नगेन्द्र, पृ०- ३०४

नया मूल्यांकन नामक ग्रन्थ में कहा है कि रीति कवियों में प्रतिभा की कमी नहीं थी, पर एक विशेष मनोवृत्ति के कारण (दरबारी मनोवृत्ति) वे उसका उतना उपयोग न कर व्युत्पत्ति पर अधिक आश्रित हो गए[1]।

कहा जाता है कि तत्कालीन कवियों ने विशिष्ट ढंग की जो साहित्यिक रूढ़ियां अपनायीं उसके बहुत कुछ उनका समसामयिक वातावरण उत्तरदायी है। यह वातावरण सामंतीय था और कवि सामंतों के आश्रित थे। इसलिए उन्हें उनको रुचियों का बहुत अधिक ख्याल रखना पड़ता था। यहाँ पर यह सवाल भी उठाया जा सकता है कि क्या कालिदास राजाश्रित नहीं थे ? क्या भवभूति को किसी राजा की छाया में नहीं पलना पड़ा था ? ऐतिहासिक दृष्टि से वह युग भी तो सामंतीय ही था। वे दरबार में रहते थे, पर उन्हें दरबारी नहीं कहा जा सका। उनके आश्रयदाता स्वयं प्रतिभाशाली सहृदय थे। वे काव्य को हल्के मनोविनोद की सामग्री नहीं समझते थे। भोज को ही लीजिए। भोज ने अपने ग्रन्थ ` शृंगार- प्रकाश ` में अनेक पूर्व स्वीकृत मान्यताओं को अस्वीकार किया है। तो ऐसे लोग भला कवियों को कैसे अपने मनोनुकूल रचनाएं लिखने के लिए बाध्य करते। रीतिकाल के देशी रजवाड़ों को सुखोपभोग के अतिरिक्त और कोई काम नहीं रह गया था। मुगल सम्राटों की शीतल छत्रछाया में निर्विघ्न विलास में आकण्ठ मग्न होना ही उनकी दिनचर्या थी। दरबार में आने- जाने से, उससे सम्बद्ध होने से ही कोई

१- बिहारी का नया मूल्यांकन : डा० बच्चन सिंह, पृ०- ६

दरबारी नहीं हो जाता। दरबारी पर एक मनोवृत्ति है जिसका विकास बहुत कुछ दरबारों की प्रकृति और व्यक्ति की प्रवृत्ति पर निर्भर करता है। इन दरबारों के पण्डितों और प्रवीणों के अनुकूल अपने को ढालना कवियों के लिए अनिवार्य हो गया[1]।

(iii) मानवीय जीवन में प्रेम की महत्ता :

मानवीय जीवन को सरस और सृजनशील बनाने के लिए प्रेम का बहुत अधिक आवश्यकता होता है। प्रेम के अनेकानेक रूपों में नर-नारी का प्रेम सर्वाधिक पूर्ण तथा तादात्म्य मूलक होता है। इस प्रेम के स्तरों के सम्बन्ध में विचार करने पर स्थूल रूप से इसके तीन स्तर माने जा सकते हैं— भौतिक, आत्मिक और आध्यात्मिक[2]। किन्तु इन स्तरों को अलग-अलग कक्षों में बांट देना मनोवैज्ञानिक नहीं माना जा सकता। अपने आदिम रूप में भी प्रेम मात्र भौतिक नहीं हो सकता। शारीरिक मिलन के पूर्व भी जिस प्रकार के उल्लास पुलक आनन्द या पीड़ा का अनुभव प्रेमी को होता है इस प्रकार का अनुभव किसी अन्य भौतिक उपलब्धि द्वारा नहीं हो पाता। प्रेमिका का आत्मिक सौन्दर्य-संवेदात्मक तथा बौद्धिक सौन्दर्य का कम मूल्य नहीं आंका जा सकता। फिर भी प्रेमोत्पादन में भौतिक आकर्षण-शारीरिक आकर्षण के महत्व को भुठलाया नहीं जा सकता। सौन्दर्य के

१- रीतिकालीन कवियों की प्रेम व्यंजना : डा० बच्चन सिंह, पृ०-८-१७

२- बिहारी का नया मूल्यांकन : डा० बच्चन सिंह, पृ०-२७

वस्तुपरक पक्ष का वर्णन साहित्यकारों का बहुत ही प्रिय विषय रहा है। यहीं पर पुराना सवाल उठ खड़ा होता है कि क्यों सौन्दर्य वस्तुनिष्ठ है ? इसके उत्तर में यहां कहा जायगा कि यह आंशिक रूप में सही है। इसलिए सौन्दर्यशास्त्रियों ने विषय और विषयी के पारस्परिक सम्बन्धों में सौन्दर्य की संनिहित मानी है[1]।

प्रेम का आत्मिक स्तर विषय में डा० बच्चन सिंह का विचार है कि जहां नहुंककर भौतिक आकर्षण का अपेक्षा आत्मिक सौन्दर्य के प्रतिमान की ललक अधिक दिखाई पड़े। इससे उत्पन्न उल्लास से एक व्यापक सौन्दर्य-चेतना आविर्भूत होती है, जीवन का अनुकूल वेदनीय नवीन स्पन्दन सुनाई पड़ता है। इसके द्वारा जो संवेदना अथवा संवेग जागृत होता है वह व्यक्ति-विशेष के प्रति का केन्द्रित होते हुए भी उसका अतिक्रमण कर जाता है। रोमांटिक प्रेम का यही स्तर है। आध्यात्मिक प्रेम में प्रेमी आत्म-केन्द्रबद्ध नहीं रह जाता, केन्द्र ऐसा व्यापक हो जाता है कि वह केन्द्र, केन्द्र न रहकर वृत्त में बदल जाता है[2]।

कहना न होगा कि रीति-कवियों का प्रेम पहले प्रकार का है अर्थात् वह भौतिक धरातल से ऊपर नहीं उठ पाता। उनके प्रेम का मुख्य प्रेरक स्रोत शरीर सौन्दर्य है और उसकी चरम परिणति भी वही है।

प्रेम की महत्ता और गहराई के सम्बन्ध में बिहारी जैसे विलक्षण कवि अपरिचित नहीं थे। जिस कवि ने शास्त्रीय परम्पराओं का इतना मनोयोगपूर्वक अध्ययन किया हो वह प्रेम के महत्व से अनभिज्ञ हो, ऐसा नहीं

माना जा सकता[1]।

रीतिकाव्यों के प्रेम का मुख्य आकर्षण केन्द्र शरीर सौन्दर्य था। बिहारी ने इसका वर्णन चार रूपों में किया है— स्वाभावात्मक रूप में, वस्त्राभूषणों के बीच में, घरेलू वातावरण में और परम्परा के मेल में।

जहां कवि रूढ़ियों से सर्वथा मुक्त होकर सौन्दर्य की प्रभावान्विति का वर्णन करता है वहां पाठकों की ऐन्द्रिय चेतना को सर्वाधिक उद्बुद्ध करने में समर्थ होता है। स्वयं सौन्दर्य किसी अंग विशेष में नहीं होता और न तो अंगों के सुषम संस्थान में ही उसकी संस्थिति स्वीकार की जा सकती है। सब मिलाजुला कर वह ऐसा प्रभाव होता है जो हमारी रागात्मिका वृत्ति को उभार देने में पूर्णतः समर्थ होता है[2]।

रीतिकवियों ने नायिका के सहज सौन्दर्य पर उतना ध्यान नहीं दिया है जितना उसके अलंकृत सौन्दर्य पर। रीतिकालीन वैभव-विलास के अनुकूल नायिकाओं का भी उन्माद चित्र खींचना उनकी रुचि के अधिक अनुकूल था। वस्त्राभूषण नायिका के अभिजात्य के सूचक, शालीनता के रक्षक- सौन्दर्य के अभिवर्द्धन और नायक के प्रेम के उद्दीपक हैं। वे अपनी रंगीन छाया से नायिका में नवीन आकर्षण और मादकता भर देते हैं। इस तरह के सौन्दर्य चित्र बिहारी में ढेर के ढेर मिल जायेंगे[3]। रीतिकाव्यों

१- बिहारी का नया मूल्यांकन : डा० बच्चन सिंह, पृ०- २६

२- वही, पृ०- ३१

३- वही, पृ०- ३२

में संयोग शृंगार के प्रति जितनी ललक दिखाई पड़ती है, उतनी वियोग शृंगार के प्रति नहीं। संयोग-शृंगार का मूलाधार शारीरिक आकर्षण है, जो अनेक प्रकार के रूपों, भंगिमाओं, चेष्टाओं, वाचिक और शारीरिक विकारों, मानसिक दशाओं आदि में प्रस्तुत होता है[1]। इस प्रसंग में कवि परम्परा से सुरति, षट्ऋतु वर्णन, विहार, मद्यपान, क्रीड़ा, अष्टयाम आदि का वर्णन करते आए हैं। दर्शन, श्रवण, स्पर्श, अंलाप आदि के सहारे संयोग का महल खड़ा किया जाता है— इसलिए इनका समावेश भी इस काल की कविताओं में खूब हुआ है। संक्षेप में कहा जा सकता है कि इन कवियों का— विशेष रूप से बिहारी का मन-क्रीड़ा-परक प्रेम में बहुत अच्छी तरह रमा है[2]।

समस्त परम्पराओं के पालन के बावजूद भी बिहारी के विरह-वर्णन में कुछ ऐसे स्थल जरूर हैं जो उनकी श्रेष्ठ काव्य प्रतिभा के द्योतक हैं। (विरहवर्णन ही क्यों संयोग और सौन्दर्य वर्णन के सिलसिले में भी उसे देखा जा सकता है।) इस तरह के दोहों के कुछ उदाहरण देखिए—

(१) अजौं न आए सहज रंग, बिरह दूबरे गात।
अब ही कहा चलाइयति, ललन-चलन की बात।।

१- रीतिकालीन कवियों में प्रेम व्यंजना : डा० बच्चन सिंह, पृ०- १७२

२- बिहारी का नया मूल्यांकन : डा० बच्चन सिंह, पृ०- ३५- ३६

(२) जदपि तेज रोहाल बल, पलकौ लगी न बार।

तौ ग्वैड़ो घर को भयो, पैड़ो कोस हजार[१]।।

पहले दोहे में नायक के विदेश जाने का प्रसंग है। सखी कहती है कि अभी तो प्रथम वियोग से दुखित नायिका के अंगों में स्वाभाविक रंग तक नहीं आया। यह प्रथम वियोग क्लेश को ही अभिव्यक्त करके नहीं रह जाता, बल्कि इससे प्रथम वियोग का पूरा दुखात्मक वातावरण व्यंजित हो उठता है। इतना ही नहीं, उस वियोग में तो बेचारी की वह दशा हुई पता नहीं इस वियोग में क्या होगा। प्रथम वियोग से दुर्बल शरीर और उसके रंग (पांडुता आदि) से विरह पूरी अभिव्यक्ति पा जाता है[२]।

दूसरे दोहे के कथ्य की नींव गहरी मनोवैज्ञानिक वास्तविकता पर टिकी है। नायक अत्यन्त तीव्रगामी घोड़े पर सवार है, अतः उसे प्रिय के पास पहुंचने में तनिक भी विलम्ब नहीं लगा। किन्तु ग्वैड़े का रास्ता हजार कोस दूर मालूम पड़ने लगा। आपेक्षावाद के सिद्धान्त से परिचित लोगों को इसकी स्वाभाविकता में किसी तरह का सन्देह नहीं हो सकता। मानसिक सत्य को भौतिक, सत्य से इस तरह बांधा गया है कि उसकी अस्वाभाविकता खलने के स्थान पर अच्छी लगती है[३]।

१- बिहारी का नया मूल्यांकन : डा० बच्चन सिंह, पृ०- ५३

२- वही, पृ०- ५५

३- वही, ५५

(१७) मनोविश्लेषणात्मक समीक्षा :

हिन्दी में मनोवैज्ञानिक शैली का उपयोग तो प्राय: सभी समालोचकों ने किया है। यह पहले ही बताया जा चुका है। पर मनोविश्लेषणात्मक शैली की समालोचनाएं हिन्दी में कम हैं। पं० इलाचन्द्र जोशी तथा अज्ञेय जी के अतिरिक्त हिन्दी के अन्य आलोचकों ने मनोविश्लेषण-शास्त्र के सिद्धान्तों की समीक्षा में कहीं-कहीं निर्देश भर किया है। डा० नगेन्द्र जी ने मनोविश्लेषणवादी साहित्य सिद्धान्तों का विस्तृत विवेचन किया है। तथा उन सिद्धान्तों के आधार पर हिन्दी साहित्य का मूल्यांकन भी थोड़ा बहुत किया है। पर नगेन्द्र जी मूलत: नूतन रसवादी हैं— अज्ञेय जी और जोशी जी को सृजन के क्षेत्र में भी इन सिद्धान्तों से प्रेरणा मिली है। समीक्षा में उन्होंने 'फ्रायड' और 'एडलर' के सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया है और उन्हीं सिद्धान्तों के आलोचन में हिन्दी साहित्य की प्रधानत: आधुनिक छायावादी और प्रगतिवादी काव्यधारा का विवेचन किया है। अज्ञेय जी कला के स्वभाव का निरूपण करते हैं। "कला का सामाजिक अनुपयोगिता की अनुभूति के विरुद्ध अपने को प्रमाणित करने का प्रयत्न अपर्याप्तता के विरुद्ध विद्रोह है[१]।" अज्ञेय जी का कहना है कि आदिम अवस्था में समाज और परिवार के अनुपयुक्त

१- त्रिशंकु - 'कला का स्वभाव और उद्देश्य': अज्ञेय, पृ०- २३

मानव को अपनी उपयोगिता को सिद्ध करने के प्रयास ने ही कला को जन्म दे दिया। सौन्दर्य-बोध, जो कला का प्राण है इसी प्रकार की नवीन सृष्टि है अज्ञेय जी लिखते हैं—" हमारे कल्पित प्राणी ने हमारे कल्पित समाज के जीवन में भाग लेना कठिन पाकर अपनी अनुपयोगिता की अनुभूति से आहत होकर अपने विद्रोह द्वारा उस जीवन का क्षेत्र विकसित कर दिया है, उसे एक नई उपयोगिता सिखायी है। पहला कलाकार ऐसा ही प्राणी रहा होगा। पहली कला-चेष्टा ऐसी ही विद्रोह रही होगी[1]।"

जोशी जी ने कला-विवेचन में भी 'फ्रायड' और 'एडलर' दोनों के सिद्धान्तों का उपयोग हुआ है। छायावादी कवियों का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण करते हुए जोशी जी ने फ्रायड के अतृप्ति तथा एडलर के प्रभुत्व कामना के सिद्धान्त का विवेचन किया है। कला का दमित वासनाओं से सम्बन्ध स्थापित करते हुए जोशी जी लिखते हैं—" वहां वे ऐसी दबी पड़ी रहती हैं कि फिर आसानी से ऊपर को उठ नहीं पातीं। पर बीच-बीच में जब वे शेषनाग के फनों की तरह आन्दोलित हो उठती हैं, तब हमारे सचेत मन को भूकम्प के प्रचण्ड प्रवेग से हिला देती है। ऐसे ही अवसरों पर कलाकार का हृदय अपने भीतर किसी " अज्ञात शक्ति " की प्रेरणा का अनुभव करके कलात्मक रचना के लिए विकल हो उठता है। कवि अथवा कलाकार की कृतियां उसके अन्तस्तल में दबी हुई भावनाओं की ही प्रतीक होती हैं।

१- त्रिशंकु- कला का स्वभाव और उद्देश्य : अज्ञेय, पृ०- २६

सृजन और भावन के क्षेत्रों में मनोविश्लेषण शास्त्र ने आधुनिक हिन्दी साहित्य को गहराई से प्रभावित किया है। इसने साहित्य को व्यक्तिनिष्ठ यथार्थवादी चेतना प्रदान की है। इससे नैतिकता सम्बन्धी रूढ़, संकुचित एवं जड़ धारणाओं का उन्मूलन हुआ तथा नीति की उदार कल्पना के लिए भूमि तैयार हुई है। कवि व्यक्तित्व के स्वस्थ अथवा अस्वस्थ दिशा में विकास, काव्यवस्तु के चुनाव, प्रतीक विधान आदि को समझाने के लिए एक चिन्तन- पद्धति भी इस सम्प्रदाय से प्राप्त हुई पर इसने हिन्दी साहित्य -दर्शन एवं समीक्षा को किसी स्थायी एवं सर्वांगीण पद्धति को जन्म नहीं दिया। आज हिन्दी की दृष्टि से यह शैली भर मानी जा सकती है। इस समीक्षा के विभिन्न तत्व अन्य पद्धति की आधारशिला रख दी है, अतः वे विशुद्ध मनोविश्लेषण शास्त्री नहीं कहे जा सकते हैं। अब तो वे साहित्य को मूल चेतना व्यक्तित्व का उद्घोष नहीं, अहं का विलय मानते हैं। साहित्य को निर्वैयक्तिकता का साधन मानने लगे हैं। इस प्रकार मनोविश्लेषणशास्त्र से दूर हट गए हैं। जोशी जी में भी सौन्दर्यवादी एवं समन्वयवादी समीक्षात्मक चेतना अधिक प्रखर हुई है। वे मनोविश्लेषण-शास्त्र की सीमाओं के प्रति अधिक सजग हैं। इस प्रकार अद्यतन परिस्थितियों में हिन्दी में मनोविश्लेषण-शास्त्र पर आधारित समीक्षा पद्धति न रहकर शैली मात्र बनती जा रही है।

इस प्रकार शुक्लोत्तर युग में समीक्षा की मुख्य तीन ही प्रकार की प्रक्रिया थी, जिसमें हमने दो दृष्टियों का उल्लेख कर दिया है। तीसरी दृष्टि

समाजशास्त्रीय दृष्टि

युग की परिस्थितियों में रखकर साहित्य और साहित्यकार के स्वरूप का स्पष्टीकरण तथा मूल्यांकन ऐतिहासिक समीक्षा है। यह आधुनिक समीक्षा के प्रमुख तत्वों में से है। भारतेन्दु-युग, द्विवेदी युग, शुक्ल युग, सौष्ठववादी तथा उसके बाद के सभी युगों के समीक्षकों ने ऐतिहासिक शैली का उपयोग किया है। आधुनिक समीक्षा का यह मान्य तत्व बन गया है और आज यह शैली हिन्दी में विकासोन्मुख भी है। एक तरफ यह शैली मार्क्सवादी समीक्षा में परिणत हुई तो दूसरी तरफ इसने द्विवेदी जी में मानवतावादी साहित्य-दर्शन का आधार पाकर समाज शास्त्रीय एवं सांस्कृतिक समीक्षा का रूप धारण कर लिया। सत्य तो यह है कि आचार्य द्विवेदी जी ने नैतिक और सांस्कृतिक दृष्टि से प्रेरित होकर ही मिश्रबन्धुओं के नवरत्न में देव आदि रीति कवियों की कड़ी आलोचना की। इसलिए श्री द्विवेदी जी की दृष्टि से शैली मात्र न कहकर सम्प्रदाय कहना ठीक ही है। मानवतावादी समाज-शास्त्रीय समीक्षा पद्धति के सम्प्रदाय के अभिहित कहलाने के योग्य स्वरूप तो द्विवेदी जी के चिन्तन और प्रयोग ने ही प्राप्त किया है। द्विवेदी जी ने 'नवरत्न' की समीक्षा में एच० एल० सी० जी० के लेख का कुछ अंश भी उद्धृत किया है, जिसमें यह कहा गया है कि मनुष्य समाज को उन्नत करने, अलौकिक आनन्द देने वाले दृश्यों आदि के बारे में यदि कुछ नहीं

कहा गया तो कवि व्यापक अर्थ में प्रगति का तात्पर्य साहित्य का मानव-सभ्यता का प्रयोजन निरर्थक है[१]। यह दृष्टि मतिराम आदि रीति कवियों के सम्बन्ध में भी चरितार्थ होती है। मिश्रबन्धुओं ने इस दृष्टि से विचार नहीं किया। कवि के चमत्कार की दृष्टि पर उन्होंने बल दिया है,और संस्कृत के विकास में सहयोगसिद्ध है। इस अर्थ के अनुसार साहित्य समाज की तत्कालीन अवस्था का यथार्थ चित्र ही नहीं उपस्थित करता अपितु जीवन के विकास की प्रतिगामी शक्तियों के प्रति विद्रोह करता है,तथा नवीन जीवन की प्रेरणा भी देता है। प्रगतिवाद का यह रूप प्रत्येक साहित्य में समय-समय पर उभर आता है और साहित्य स्वं मानव-जीवन को शक्ति प्रदान करता है।

हिन्दी में मार्क्सवादी आलोचना के प्रधान व्यक्ति

श्री शिवदान सिंह चौहान, डा० रामविलास शर्मा, श्री अमृतराय, श्री अंचल जी, श्री प्रकाशचन्द्र गुप्त, डा० नामवर सिंह आदि हैं। हिन्दी में मार्क्स के सौन्दर्यशास्त्र कला और साहित्य-सम्बन्धी मान्यताओं का कोई क्रमबद्ध सर्वांगीण विवेचन अभी नहीं हुआ है। इन आलोचकों में से किसी ने ऐसे सर्वांगीण ग्रन्थ की रचना नहीं की है। हां, निबन्धों में मार्क्सवाद के इन सिद्धान्तों का परिचय बिखरा हुआ अवश्य मिल जाता है। साहित्य और समाज का सम्बन्ध, शासक वर्ग का साहित्य पर

१- Do they grapple with any problems of life, for the solution of which every individual hungers as soon as the dream and romance of youth are shattered by the cruel realities of the world. Page.२०१

आधिपत्य, आदिम साम्यवाद आदि अवस्थाओं का निर्देश तथा उनसे साहित्य का सम्बन्ध, सामूहिक भाव, समाजवादी यथार्थ, साहित्य की उपयोगिता, साहित्य में कला, व्यक्ति भाव और बुद्धि आदि प्राय: सभी पक्षों पर इन मार्क्सवादी आलोचकों ने विचार किया। हिन्दी का प्रगतिवादी अपने मान को सौन्दर्य-मूलक सामाजिक दृष्टिकोण कहना चाहता है। अंचल जी प्रेमचन्द की क्रान्ति को व्यक्ति के भीतर से आने वाली कहकर उसका महत्व कम करते हैं कारण उसमें यह मानते हैं कि मार्क्सवादी सामूहिकता के दर्शन उन्हें नहीं हो रहे थे[१]। यह आलोचना प्रेमचन्दजी के साहित्य पर अपने पूर्वाग्रहों और रूढ़ धारणाओं का आरोप-मात्र है। डा० रामविलास शर्मा शरदचन्द्र के चित्रण को नष्टप्राय, जर्जर जमींदारी वर्ग का चित्रण मानते हैं। उनमें उन्हें प्रचण्ड व्यक्तिवाद की गन्ध आती है।

डा० रामविलास शर्मा जी अपने ' आचार्य रामचन्द्र शुक्ल और हिन्दी आलोचना ' ग्रन्थ में लिखते हैं, शुक्ल जी लोक-हृदय में लीन होने की कसौटी रखकर उन्होंने हर तरह की संकुचित व्यक्तिवादी और भाववादी धारणाओं से साहित्य को मुक्त करके उसे सामाजिक जीवन का एक अंग बना दिया है। इसलिये लोक-हृदय, लोक-मंगल या लोकहित को दूर-किनार करके साहित्यकार आगे नहीं बढ़ सकता[२]।

१- समाज और साहित्य : पृ० - १०३

२- आचार्य रामचन्द्र शुक्ल और हिन्दी आलोचना :

आचार्य शुक्ल ने हिन्दी में पहली बार जमकर रीति ग्रन्थों का विरोध किया, साहित्य पर उनके घातक प्रभाव का उल्लेख किया। कुछ खास तरह के नायकों, नायिकाओं, उद्दीपनों आदि के भीतर साहित्य को बांध रखने के प्रयास का विरोध करते हुए उन्होंने कहा— " जिस प्रकार वाह्य दृश्यों के अनन्त रूप हैं उसी प्रकार मनुष्य की मानसिक स्थिति के भी --- विविध प्रवृत्तियों के मेल में संघटित जो अनेक स्वभाव के मनुष्य दिखाई पड़ते हैं उनके स्पष्टीकरण के लिए मानव-प्रकृति के अन्वीक्षण की आवश्यकता होती है। यह आवश्यकता उक्त चार प्रकार के ढांचे तैयार मिलने से पिछले कवियों में न रह गई[1]।" रीति ग्रन्थों के विरोध का मूल सूत्र यही है— मानव प्रकृति की विविधता। शुक्ल जी यथार्थवाद की भूमि से रीति ग्रन्थों की कृत्रिमता दिखाते हैं। उनका आग्रह साहित्य को यथार्थ जीवन के निकट लाने के लिये है, उसे सच्चा और स्वाभाविक बनाने के लिये है। जिस तरह १६वीं सदी के आरम्भ में अंग्रेजी के रोमांटिक कवियों ने पुराने दरबारी साहित्य शास्त्र का ताना-बाना नष्ट करके अंग्रेजी काव्य की आत्मा को मुक्त किया था, उसी तरह आचार्य शुक्ल ने रीति ग्रन्थों के बन्धनों को तोड़कर हिन्दी साहित्य की आत्मा को मुक्त किया[2]।

डा० रामविलास शर्मा जी कहते हैं— " शुक्ल जी ने दिखाया कि नायकों की तरह नायिकाओं के भेद गिनाकर साहित्य में नारी-चरित्र

१- रसमीमांसा : आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, पृ०-६५

के साथ खिलवाड़ किया गया। मौलिकता का ह्रास हुआ। लीक पीटने वालों की संख्या बढ़ती गई। कविता खुशामद और दिलबहलाव की वस्तु हो गई। वाल्मीकि, व्यास, तुलसीदास आदि महाकवियों की सच्ची मानवतावादी परम्परा के आधार पर उन्होंने रीतिग्रन्थों में प्रतिपादित करुणा का टाट उलट दिया। करुणा का नाम पुराना है शुक्ल जी ने उसे एक नये अर्थ से दीप्त कर दिया है[1]। शुक्ल जी का दृष्टिकोण सामंत- विरोधी है, इसी लिये वह असहिष्णु है। उनकी आलोचना सामन्ती संस्कृति के प्रेमियों के लिये ललकार है। वह जनता का पक्ष लेकर एक नयी संस्कृति के लिये लड़ने वाली आलोचना है। साहित्य में तटस्थता, जनता के प्रति उदासीनता, शुद्ध कला और शुद्ध कल्पना के हामियों को शुक्ल जी का यह लड़ाकू रूप पसन्द नहीं। लेकिन इसी लिए वह हमारे साहित्य विकास के लिए इतना महत्वपूर्ण है[2]। रीतिकालीन कवि सामंतों के हाथ किस तरह बिक गये थे, उसका व्यंग्यपूर्ण चित्र खींचते हुए शुक्ल जी ने लिखा है :

" हिन्दी के रीतिकाल के कवि तो मानो राजाओं के यहां राजाओं की कामवासना उत्तेजित करने के लिये ही रखे जाते थे। एक प्रकार के कविराज तो रईसों के मुंह में मकरध्वज का रस झोंकते थे, दूसरे प्रकार के कविराज कान में मकरध्वज की पिचकारी देते थे। पीछे से तो ग्रीष्मोपचार

१- आचार्य रामचन्द्र शुक्ल और हिन्दी आलोचना :
डा० रामविलास शर्मा, पृ०- ६- १०

२- वहीं, पृ०- १२

आदि के नुसखे भी कवि लोग तैयार करने लगे।" (उप० पृ०- २८)

सामंतों के हाथों कविता की जो दुर्दशा हुई है, उसके बारे में शुक्ल जी क्रोध के साथ लिखते हैं :

" कविता पर अत्याचार भी बहुत कुछ हुआ है। लोभियों, स्वार्थियों और खुशामदियों ने उसका गला दबाकर कहीं अपात्रों की आसमान पर चढ़ाने वाली स्तुति करायी है, कहीं द्रव्य न देने वालों की निन्दा। ऐसी तुच्छ वृत्तियों वालों का अपवित्र हृदय कविता के निवास के योग्य नहीं[1]। "

इस प्रकार वर्ग का प्रयोग न करके भी शुक्ल जी ने बहुत अच्छी तरह रीतिकालीन साहित्य का वर्ग-आधार स्पष्ट कर दिया है। वर्गों से परे उन्होंने शुद्ध कलावाद के आधार पर इस साहित्य का सौन्दर्य-निरूपण नहीं किया। यही बात शुद्ध कलावादियों के लिये एकांगी समाजशास्त्रियों का दृष्टिकोण है[2]।

डा० रामविलास शर्मा जी अपने आलोचनात्मक ग्रन्थ आचार्य रामचन्द्र शुक्ल और हिन्दी साहित्य में शुक्ल जी के दृष्टिकोण बताते हैं कि ईश्वर और धर्म को समझने के लिये उन्होंने सामाजिक विकास के अध्ययन का रास्ता अपनाया है। उनका दृष्टिकोण एक दृष्टिवादी और समाजशास्त्रीका है। न कि रहस्यवादी, कल्पनावादी और दार्शनिक का[3]।

१- रसमीमांसा : आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, पृ०- ५३

२- आचार्य रामचन्द्र शुक्ल और हिन्दी आलोचना : डा० रामविलास शर्मा, १३

३- वही, पृ०- ६६

इनकी दृष्टि रीतिकाल के प्रति कठोर थी। इस समाजशास्त्रीय दृष्टि के आलोचक द्विवेदी जी के मान्यताओं के ही कायल थे। इन कवियों को मार्क्सवादी दृष्टि थी जिसमें रामविलास शर्मा मुख्य थे। ये नैतिक मान्यताओं से संग्रस्त थे। उन्होंने रीतिकालीन कवियों की ऐंद्रिय चेतना, को बहुत अच्छा नहीं कहा।

आचार्य केशवदास आदि कवियों ने हिन्दी के कुछ मामूली पढ़े- लिखे पाठकों और अध्यापकों पर आचार्यत्व का रोब जमा रक्खा था। शुक्ल जी ने इन दरबारी कवियों के कन्धों पर से आचार्यत्व की रामनामी उतार ली[१]। रीतिकालीन कवियों ने हिन्दी काव्य- क्षेत्र संकुचित किया, जीवन की अनेकरूपता का उनमें अभाव है। शुक्ल जी के शब्दों में वाग्धारा बंधी हुई नालियों में ही प्रवाहित होने लगी। " रामविलास शर्मा जी कहते हैं कि शुक्ल जी साहित्य में व्यक्तिगत दायरे से निकल कर लोक जीवन को साहित्य का मापक्षेत्र बनाने के पक्ष में रहे हैं। लेकिन रीतिकालीन कवियों का व्यक्तित्व ऐसा निर्जीव था कि उन्हें लिखना पड़ा है :
" कवियों की व्यक्तिगत विशेषता की अभिव्यक्ति का अवसर बहुत ही कम रह जाता है[२]। "

रीतिकालीन कवियों ने अपनी काव्य सामग्री राजदरबारों और वहां के वातावरण से ली थी। वह साधारण जनता के जीवन से बाहर की थी। भक्त कवियों ने रानियों का भी वर्णन किया है तो साधारण

१- आचार्य रामचन्द्र शुक्ल और हिन्दी आलोचना :
डा० रामविलास शर्मा, पृ०- ११८

२- वही. ११८

स्त्रियों के रूप में, दरबारी कवियों ने साधारण स्त्रियों का वर्णन भी किया है तो उन्हें रनिवास की नायिका बना दिया है। रीतिकालीन कवि अपनी-अपनी नायिकाओं के लिए जन-साधारण के जीवन से दूर किस तरह की सामग्री जुटाते थे; इस पर शुक्ल जी कहते हैं— " यदि कनक-पर्यंक, मखमली सेज, रत्नजटित अलंकार-संगमर्मर के महल, खसखाने इत्यादि की बातें होतीं तो वे जनता के एक बड़े भाग के अनुभव से कुछ दूर की होतीं[1]। " दरबारी कवियों के शृंगारी कविता में शुक्ल जी को सबसे बड़ा दोष उसकी कृत्रिमता दिखायी देती है। उन्होंने नायिकाओं के सूखकर कांटा होने, मूर्छा, उन्माद आदि के अतिरंजित चित्रों की तीव्र आलोचना की है। इसके सिवा शृंगार के चित्रण में ये कवि मर्यादा का बिलकुल ध्यान न रखते थे। तुलसी के प्रेम-चित्रण से इनके शृंगार वर्णन की भिन्नता दिखाते हुए उन्होंने " नायिका भेद वाले कवियों " द्वारा "लोक मर्यादा का उल्लंघन" होता बतलाया है। उन्हें " रासलीला के रसिकों " से भी कोई शिकायत है तो यही कि वे भी मर्यादा का ध्यान नहीं रखते[2]। केशव से उन्हें कई तरह की शिकायतें हैं। बुढ़ापे में भी उनका नायिका-भेदी दृष्टिकोण दूर न हुआ, यह एक है। भोंड़े अलंकार से चमत्कार पैदा करने की कोशिश की, यह दूसरी है। इस चमत्कारवाद को शुक्ल जी काव्य का बहुत बड़ा दोष मानते हैं। इससे स्वाभाविक

१- आचार्य रामचन्द्र शुक्ल और हिन्दी आलोचना :
डा० रामविलास शर्मा, पृ०- ११६

२- वही, ११८

प्रयोगात्मकता की गुन्जाइश नहीं रहती। केशव से उन्हें सबसे बड़ी शिकायत यह थी कि उनमें हृदय का तो कहीं पता ही नहीं है (गोस्वामी तुलसीदास) शुक्ल जी को केशव से कोई व्यक्तिगत चिढ़ न थी। उनकी समर्थ आलोचना पर यहां एकांकी होने का दोष हम नहीं लगा सकते। केशव की खामियां बतलाते हुए उन्होंने केशव की कथावस्तु और कला दोनों ही के मौलिक दोषों का उद्घाटन किया है। उन्होंने केशव की रसिकप्रिया में " वाग्विदग्ध " और " सरसता " की सराहना की[1]।

केशव के पश्चात् अर्थुक्ति और कृत्रिमता के लिए शुक्ल जी ने बिहारी जी की आलोचना की है। बिहारी का सम्बन्ध वे मानते हैं कि उनकी रचनाओं का आधार मानव-जीवन की सहज अनुभूतियां उतनी नहीं है जितना रीति ग्रन्थ। " बिहारी रीतिग्रन्थों के सहारे जबरदस्ती जगह निकाल कर दोहों के भीतर शृंगार रस के विभाव - अनुभाव और संचारी ही भरते रहे[3]। " रीति-ग्रन्थों का प्रभाव कविता पर कैसा पड़ा था, यह दिखाकर शुक्ल जी ने इस तरह के कवियों और आलोचकों को उत्तर दिया था।

जैसे ये कवि थे, वैसे ही रीति ग्रन्थों का हवाला देकर इनकी दाद देने वाले आलोचक भी थे। जायसी की भूमिका में शुक्ल जी ने `आहाहा ` और " वाह-वाह " वाली आलोचना को जल्दी ही बन्द करने का सुझाव

१- आचार्य रामचन्द्र शुक्ल और हिन्दी आलोचना :
डा० रामविलास शर्मा, पृ०- १२४

२- गोस्वामी तुलसीदास : आचार्य रामचन्द्र शुक्ल,

रखा है। " रीतिकालीन कविता की सीमाएं बतलाने के साथ-साथ शुक्ल जी ने रीतिकालीन परम्परा की आलोचना की सीमाएं भी जता दीं। "सूरदास" में बिहारी की फ़ानों में भीगती हुई नायिका के बारे में लिखते हैं: उनकी नायिका को नायक के भेजे हुए पंखे की हवा लगने से उलटा और पसीना होता है। यह तमाशे की बात जरूर हो गई है[1]।"

शुक्ल जी सभी रीतिकालीन कवियों के विरोधी नहीं थे। ऐसा डा० रामविलास शर्मा कहते हैं। इसका प्रमाण उनकी मतिराम-सम्बन्धी आलोचना है। उनका विचार है कि मतिराम को सच्चा कवि-हृदय मिला था। लेकिन अपने समय की विचारधारा का प्रभाव उन पर भी पड़ा। वे मतिराम की तरह देव को सहज प्रतिभा का कवि नहीं मानते। पहले उन्होंने देव के आचार्यत्व को लिया है। उनकी सम्मति है कि रीतिकाल में कोई भी कवि आचार्य कहलाने लायक नहीं हुआ। देव भी उस स्थान के योग्य नहीं हैं। जिन लोगों ने देव को मौलिक चिन्तन का होम दिया है, शुक्ल जी के अनुसार, उन्होंने ऐसा "मक्तितन्त्र" किया है[2]। देव के अनुसार अभिधा उत्तम काव्य है, लक्षणा मध्यम है और व्यंजना अधम है। शुक्ल जी का विचार है कि शब्द-शक्ति के निरूपण में हिन्दी के रीति ग्रन्थ आमतौर से कोरे हैं, इसलिये देव की स्थापना पर

१- सूरदास : आचार्य रामचन्द्र शुक्ल,

२- आचार्य रामचन्द्र शुक्ल और हिन्दी आलोचना :

डा० रामविलास शर्मा, पृ०-१२७

ज्यादा कहने का " अवकाश " नहीं है। देव को बेनीफिट आफ डाउट " पहिली बुझौवल वाली वस्तु व्यंजना से रहा होगा। शुक्ल जी स्वयं अभिधा को उत्तम, लक्षणा को माध्यम और व्यंजना को अधम मानने के लिए तैयार नहीं थे। रीति ग्रन्थों में इस विषय का समुचित निरूपण नहीं हुआ, इसका दिलचस्प कारण यह है, " इस विषय का सम्यक् ग्रहण और परिपाक जरा भी कठिन नहीं। " शुक्ल जी ने काव्य की विषय-वस्तु और उसके रूपों को अलग करके नहीं देखते। दोनों में विषय-वस्तु को नियामक मानते हैं। इसीलिये देव की असफलता को भाव-निर्वाह पर निर्भर कहा[1]। इसके विपरीत डा० नगेन्द्र यह मानते हुए कि " देव की भाषा में उचितव्यवस्था नहीं मिलती, कहने का तात्पर्य है : उन्होंने ब्रजभाषा के माधुर्य और संगीत की अपूर्व श्रीवृद्धि की है; उसको औज्ज्वल एवं कान्ति आदि गुणों से अलंकृत किया है, तथा उसकी शक्तियों का संवर्धन किया है—और इस प्रकार ब्रजभाषा की पूर्ण समृद्धि का श्रेय निःसन्देह ही उनको दिया जा सकता है। " माधुर्य है, औज्ज्वल्य है, कान्ति है, समृति है, भाषा फिर भी अव्यवस्थित है। डा० नगेन्द्र ने शुक्ल जी की दृष्टि को " वस्तुपरक " कहा है जो " भाषा के स्वरूप की व्यवस्था तथा स्वच्छता पर पड़ती है[2]। "

मतिराम की तरह पद्माकर में भी शुक्ल जी को सहज कवि प्रतिभा के लक्षण मिले हैं। शुक्ल जी ने रीतिकालीन कवियों को आचार्य नहीं

१- आचार्य रामचन्द्र शुक्ल और आलोचना: डा० रामविलास शर्मा, पृ०-१२८

२- वही, पृ०-१२६

माना, उनके चमत्कारवाद को अवांछनीय बतलाया है, जहां वह दरबारी प्रभाव से बचते हुए सहज और स्वाभाविक कविता कर सके हैं, वहां उन्होंने उसकी सराहना की है। शुक्ल जी का यह दृष्टिकोण रीतिकालीन कविता का सही मूल्यांकन करने के लिए अनिवार्य रूप में ग्राह्य है, इसमें सन्देह नहीं[1]। साधारण जनता और दरबारों की रुचि में भेद करते हुए शुक्ल जी ने जिस तरह रीतिकालीन कविता के मूल्यांकन का सवाल उठाया है, उससे कुछ आलोचक असहमत हैं। डा० नगेन्द्र ने "रीतिकाव्य की भूमिका" में द्विवेदी युग के आलोचकों, छायावाद के प्रतिनिधि कवियों और लेखकों तथा प्रगतिशील समीक्षकों द्वारा रीतिकाव्य की "उपेक्षा" पर खेद प्रकट करते हुए अपना शुद्ध कलावादी दृष्टिकोण यों पेश किया है : मैंने शुद्ध साहित्यिक (रस) दृष्टि से ही इस कविता की सामान्य प्रवृत्तियों का विश्लेषण और मूल्यांकन करने का प्रयत्न किया है—अन्य प्राप्त मूल्यों को प्रयत्नपूर्वक बचाया है। और इस दृष्टि से आप देखेंगे कि यह काव्य न हेय है और न उपेक्षणीय। इस रसात्मक काव्य का अपना विशेष महत्व है[2]।" नगेन्द्र जी का दृष्टिकोण उनकी इच्छा रहने पर भी शुद्ध साहित्यिक नहीं रह पाया, यह युग का प्रभाव है। शुक्ल जी और उनके बाद की हिन्दी आलोचना में साहित्य के सामाजिक आधार को इतना महत्व दिया गया है कि उस प्रभाव से शुद्ध रस-दृष्टि वालों का बच

१- आचार्य रामचन्द्र शुक्ल और हिन्दी आलोचना :
डा० रामविलास शर्मा, पृ०- १३४

२- वही, पृ०- १३५

निकलना भी सम्भव नहीं है। नगेन्द्र जी की पुस्तक का पहला अध्याय ही "रीतिकाव्य की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि" है। यह बात दूसरी है कि इस पृष्ठभूमि में ऐतिहासिक सचाई कितनी है। दरबारी कवियों के पापों के लिए तो नगेन्द्र जी ने जनरुचि को ही उत्तरदायी ठहराया है[1]।

डा० रामविलास शर्मा शुक्ल जी के दृष्टिकोण के प्रति अपना मत देते हुए कहते हैं— "शुक्ल जी से हम यह सीखते हैं कि रीतिकालीन काव्य का विवेकपूर्ण विवेचन करते हुए किस तरह भारतीय चिंतन के प्रगतिशील तत्वों को पहचानना चाहिए, किस तरह उन्हें वर्तमान युग में पुष्ट और विकसित करना चाहिए। शुक्ल जी के आलोचना-साहित्य का अध्ययन हिन्दी साहित्य को अवांछित प्रभावों से मुक्त करने के लिए अब भी एक महान् प्रधान साधन है। इसलिए इस तरह के आलोचक कहीं खुलकर, कहीं छिपकर शुक्ल जी की मूल स्थापनाओं पर प्रहार करते हैं। इनके प्रहारों से उनका कुछ बनता-बिगड़ता नहीं, यह दूसरी बात है, वास्तव में इससे शुक्ल जी का युगान्तकारी महत्व सभी की आंखों के सामने और भी स्पष्ट हो जाता है।

प्रगतिवादी समालोचक वर्ण्य-विषय की तरह शैली और भाषा को भी जनवादी बनाने का समर्थक है। अत्यधिक ऊहात्मक और चमत्कार-प्रधान शैली जनवादी साहित्य के लिए उपयुक्त नहीं होता। भाषा की भाषा की अत्यधिक कोमलता और मिठास को प्रगतिवादी सामाजिक ह्रास

1- आचार्य रामचन्द्र शुक्ल और हिन्दी आलोचना :
डा० रामविलास शर्मा, पृ०- १३८

का चिन्ह मानता है[1]। मार्क्सवादी काव्य-विषयों और शैलियों का सम्बन्ध वर्ग-विकास से स्थापित करता है। नाटक-विषयों और शैलियों का सम्बन्ध वर्ग-विकास से स्थापित करता है। नाटक का विकास कृषि युग की वस्तु है और महाकाव्य का सम्बन्ध युद्धों से है। इस प्रकार नाटक महाकाव्य की अपेक्षा अर्वाचीन है। यह विकास की परवर्ती अवस्था की देन है[2]। इसी प्रकार वह भाषा का सम्बन्ध भी वर्गों में स्थापित करता है। डा० नामवर सिंह और मार्कण्डेय के कहानी सम्बन्धी वक्तव्य भी प्रगतिशील समीक्षा की नई दिशाओं का निर्देश दिया है। इस समीक्षा-पद्धति का अनुसरण करने वाले अनेक ग्रन्थ तथा निबन्ध प्रकाशित हुए हैं। श्री शिवदान सिंह चौहान की "आलोचना मानें" डा० रामविलास शर्मा के "भारतेन्दु युग" "आचार्य रामचन्द्र शुक्ल" "आस्था और सौन्दर्य" आदि, प्रकाशचन्द्र गुप्त की "हिन्दी साहित्य में जनवादी परम्परा" "आधुनिक साहित्य : एक दृष्टि," "नया साहित्य एक दृष्टि," डा० नामवर सिंह का ""छायावाद"", डा० रांगेयराघव का ""तुलसीदास का कथा शिल्प" आदि उल्लेखनीय है। इनमें आलोचक स्थान-स्थान पर निरी समाजशास्त्रीयता के ऊपर उठा है[3]। द्विवेदी जी की मान्यता है कि साहित्य जीवनधारा का एक बहुत महत्वपूर्ण अंग है। धारा

1- "प्रगति अंक : डा० रामविलास शर्मा, पृ०- ३६३
2- वही, "ब्रह्मानन्द सहोदर" ,,
3- हिन्दी आलोचना : उद्भव और विकास : डा० भगवतस्वरूप मिश्र, पृ०- ५४०

के विभिन्न भाग ही युग है। जीवन की यह धारा चिर-गतिशील और चेतन है। साहित्य की अन्तर्गत जीवन की सम्पूर्ण सांस्कृतिक गतिविधि के परिप्रेक्ष्य में रखकर उसको गतिशील, चेतन, परिवृत के सहज परिणाम एवं जीवन को गति प्रदान करने की प्रमुख शक्ति मानकर ही उसका ठीक मूल्यांकन सम्भव है। यह उदार एवं असाम्प्रदायिक प्रगतिशील दृष्टिकोण है। जीवन और साहित्य की कोई प्रवृत्ति न अचानक जन्म लेती है और न समाप्त होती है। वह अपने पूर्ववर्ती युग का सहज परिणाम है और परवर्ती युग की प्रवृत्ति को रूपायित करती हुई उसी में विलीन हो जाती है। इस प्रकार साहित्य और जीवन की अविच्छिन्न धारायें हैं, साहित्य और युग के इसी अन्योन्याश्रित तथा सापेक्ष रूप का अनुशीलन एवं मूल्यांकन ही द्विवेदी जी की दृष्टि से ऐतिहासिक समीक्षा है। उनके लिए इतिहास और साहित्य दोनों ही चेतन शक्तियां हैं, वे एक दूसरे से प्रभावित होती रहती हैं। इस दृष्टि से द्विवेदी जी ने `हिन्दी साहित्य की भूमिका` में हिन्दी की विभिन्न प्रवृत्तियों तथा काव्य- धाराओं के मूल की उस चेतना के विकासशील रूप का विश्लेषण किया है जो इन प्रवृत्तियों और धाराओं में रूपायित हुई है। उन काव्य-धाराओं को जीवन और वाङ्मय के व्यापक परिप्रेक्ष्य में रखकर उनमें पारस्परिक संयोग सम्बन्ध स्थापित किया है। उन्होंने कबीर में `कबीर` के व्यक्तित्व तथा विभिन्न काव्यधाराओं का अध्ययन किया है। द्विवेदी जी ने साहित्य को अविरल स्रोत के रूप में शेष वाङ्मय से उत्पन्न करके देखा है। साहित्य और जीवन के पारस्परिक संघर्ष का विचारकरने की यह पद्धति

समाजशास्त्रीय है। मानवतावादी समाजशास्त्रीय समीक्षा पद्धति के सम्प्रदाय के व्यक्ति कहलाने के योग्य स्वरूप तो द्विवेदी जी के चिंतन और प्रयोग ने ही प्राप्त किया है।

इस अध्याय में हमने मुख्य रूप से तीन दृष्टियों पर विचार किया है जो इस युग की महत्वपूर्ण आलोचना की प्रवृत्ति रही है।

: उपसंहार :

उपसंहार

रीति काव्य अपने सौन्दर्य बोध और विशिष्ट शिल्प विधान के कारण हिन्दी ही नहीं, संस्कृत प्राकृत एवं अपभ्रंश काव्य की शृंगारिक रचनाओं की परम्परा में श्रेष्ठतम प्रमाणित हुआ है। यों रीतिकाव्य में जीवन के शाश्वत एवं चिरन्तन सत्य की अभिव्यक्ति तो नहीं हुई, किन्तु ऐहिक जीवन की सरस एवं हृदयग्राहिणी अनुभूतियों का जैसा उन्मेष तथा विकास इसमें हुआ है, वह निश्चय ही अपनी दिशा में एक मौलिक प्रयास है।

समस्त रीति वाङ्मय की नव उपलब्धियों का आकलन और समाहार प्रथम अध्याय में-दो दृष्टियों से किया गया है— (१) प्रशस्ति के रूप में, (२) ब्रजभाषा गद्य के रूप में। द्वितीय अध्याय में-तीन दृष्टियों से आकलन और समाहार किया गया है—(१) स्फुट निबन्धों के रूप में, (२) पद्यबद्ध प्रशस्ति के रूप में और (३) सम्पादित ग्रन्थों की भूमिका के रूप में। तृतीय अध्याय में-नव आकलन की चार दृष्टियां रहीं— (१) शास्त्रीयता का आग्रह, (२) नैतिक मान्यताओं की कुण्ठा से ग्रस्त समीक्षात्मक दृष्टि, (३) टीका और सम्पादन के सन्दर्भ में रीतिकविता का मूल्यांकन, (४) तुलनात्मक आलोचना के रूप में रीतिकाव्य की समीक्षा दृष्टि। चतुर्थ अध्याय में— (१) भारतीय काव्यशास्त्रीय दृष्टि का उपयोग में सामाजिक आदर्श तथा मर्यादावादी दृष्टि के बारे में शुक्ल जी ने विचार किया है (२) चिन्तामणि में भक्ति और रीति कविता का पार्थक्य पर आलोचनात्मक दृष्टि डाली गयी है। पंचम अध्याय में—(१)सौन्दर्यशास्त्रीय

(२) मनोवैज्ञानिक दृष्टि, (३) समाजशास्त्रीय दृष्टि मुख्य रूप से ही आलोचना प्रक्रिया का विषय रहीं ।

शास्त्रगत नव उपलब्धियों की दृष्टि से रीति युग के आचार्यों ने संस्कृत की समृद्ध एवं सुविकसित परम्परा से अधिक आगे बढ़ने का प्रयास तो नहीं किया है, किन्तु इसका यह तात्पर्य नहीं कि इस दिशा में उनका प्रयास सर्वथा नगण्य है । हमने शास्त्री विवेचना के सन्दर्भ में यथास्थल संस्कृत काव्यशास्त्रीय तुलना में रीति आचार्यों की कविता के मौलिकता का विवेचन किया है ।

रीति काव्य में एक ओर तो प्रशंसात्मक दृष्टि बनी रही तो दूसरी ओर निन्दात्मक दृष्टि पर विचार किये गये । प्रशंसात्मक के सम्बन्ध में बहुत से रीति कवियों की प्रशस्तियां इस कथन की साक्षिणी हैं वहीं भक्तिकाल में गोस्वामी तुलसीदास और सुन्दरदास ने नरकाव्य, प्रशस्ति काव्य, शृंगारीकाव्य की कटु आलोचना की है ।

भारतेन्दु युग हिन्दी का नवजागरण युग कहा जाता है । इस काल में साहित्य के प्राय: सभी विधाओं का स्फुरण और विकास हुआ इसके साथ ही प्रथमबार रीति समीक्षा का खड़ीबोली में सूत्रपात हुआ । इसके पूर्व रीति समीक्षा का स्वरूप प्रशस्ति के अतिरिक्त ब्रजभाषा गद्य टीकाओं में बहुत देखने को मिला । विशेषतया केशव की रसिकप्रिया, कविप्रिया और बिहारी सतसई की अनेक टीकायें विशेष उदाहरण हैं ।

द्विवेदी युग में रीति समीक्षा के दो मानदण्ड हमें देखने को मिलते

है। प्रथम तो रीति समीक्षा की प्रक्रिया का तुलनात्मक रूप रीति समीक्षा का पाश्चात्य एवं भारतीय समीक्षा के परिप्रेक्ष्य में प्रस्तुत रूप प्रथम समीक्षा के अन्तर्गत मिश्रबन्धु, पं० कृष्णबिहारी मिश्र, लाला भगवानदीन, लोकनाथ द्विवेदी, `शिलाकारी`, और पद्मसिंह शर्मा आते हैं। दूसरे समर्थ आलोचक रामचन्द्र शुक्ल कहे गये हैं।

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल जी की दृष्टि नितान्त मौलिक और परम्परा अकुन्त थी, उनकी तद्विषयक विवेचनात्मक दृष्टि बड़ी ही तर्क सम्पुष्ट और उनकी शास्त्रनिष्ठ प्रतिभा का ज्वलन्त उदाहरण है। शुक्ल जी जीवन और जगत से अधिक न जुड़ पाने वाले काव्य के प्रति बहुत सहमत नहीं थे।

शुक्लोत्तर समीक्षा के अन्तर्गत रीतिकाव्य के समर्थ और प्रबुद्ध समीक्षक डा० नगेन्द्र का नामोल्लेख किया जाता है। डा० नगेन्द्र जी ने प्रथम बार मनोवैज्ञानिक और सौन्दर्यवादी दृष्टि का विनियोग करते हुए रीतिकाव्य की समीक्षा के अन्तर्गत द्विवेदी युगीन नैतिक मान्यताओं की कुण्ठा का बहुत ही स्पष्टता के साथ विरोध किया है। शुक्लोत्तर परम्परा से ही जुड़े हुये आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, बच्चन सिंह तथा नन्ददुलारे वाजपेयी जी हैं। जिन्होंने छायावादी रोमांटिक शैली के काव्यों से प्रभावित होने के कारण इस प्रकार की रचनाओं को बहुत सहृदयता के साथ ग्रहण नहीं किया है। इसी पीढ़ी के समीक्षक रामविलास शर्मा जी हैं जिन्होंने नगेन्द्र आदि के कथित रीति समीक्षा विषयक दृष्टिकोण का प्रतिवाद किया। शुक्लोत्तर पीढ़ी के ही अन्य समीक्षक डा० छैलबिहारी गुप्त `राकेश`

व T भी नाम उल्लेख किया जा सकता है। उन्होंने इस शास्त्र का मनोवैज्ञानिक आधार प्रस्तुत किया है।

प्राय: रीतिकाव्य के साथ अश्लीलता का भी सम्बन्ध जोड़ा गया है। इसमें सन्देह नहीं कि रीतिकाल में कुछ ऐसी भी रचनाएं उपलब्ध हैं, जिनमें कुरुचिपूर्ण भावों की प्रधानता है और वे रचनाएं श्रृंगार का ऐसा अनावृत स्वरूप व्यंजित करती है,जिससे निश्चय ही रीतिकाव्य की रस संवेदना को हो हानि हुई है। पर जहां दाम्पत्य जीवन का वैविध्यपूर्ण निरूपण के सन्दर्भ में कल्पना वैभव से मण्डित अनेकश: चित्रों की आवृत्तियां हुई हैं, वहां रीतिकाव्य बेजोड़ है, और उसका भाव एवं सौन्दर्य दोनों ही पक्ष अगर्हित हैं।

भक्तिकाव्य अपनी पूर्व एवं अनाविल भाव राशियों का भण्डार अवश्य है, किन्तु उसमें वचन- भंगिमा के सौन्दर्य निरूपण करने वाले प्रकृष्ट चित्रों का बहुत कुछ अभाव है, इन रंगीन एवं विविधवर्णी चित्रों की प्रदर्शनी हमें रीतिकाव्य में ही तो मिलती है अन्यत्र नहीं। रीतिकाव्य वस्तुत: श्रृंगारिक मुक्तकों की एक ऐसी अटूट एवंअविच्छिन्न माला है जिसमें भाव-कल्पना और अनुभूतियों के साथ ही कवि कौशल के अनेकश: भव्य एवं मौलिक कुसुम अनुस्यूत तथा संग्रथित हैं। भारत की किसी भी भाषा में इतना विशाल एवं समृद्ध श्रृंगारिक वाङ्मय नहीं मिलता, अत: इस दृष्टि को इसका महत्व निश्चय ही अप्रतिम एवं बेजोड़ है।

सहायक ग्रन्थ-सूची

१- अमरुकशतक : अमरु (टी० श्री ईश्वरनाथ भट्ट

२- अमरचन्द्रिका : सूरति मिश्र

३- आलोचनादर्श : डा० रसाल

४- आंसू : जयशंकर प्रसाद

५- आधुनिक साहित्य : नन्ददुलारे बाजपेयी, लीडर प्रेस, इलाहाबाद,
प्रथम संस्करण सं० २००७ वि०

६- आचार्य रामचन्द्र शुक्ल : डा० रामविलास शर्मा, विनोद पुस्तक मन्दिर,
हास्पिटल रोड, आगरा, द्वितीय संस्करण १९५९

७- कवितावली : तुलसी, रामनारायण लाल, इलाहाबाद, सं०- २००६

८- कबीर ग्रन्थावली : डा० श्यामसुन्दर दास, नागरी प्रचारिणी सभा,
काशी, सन् १९४७

९- कविप्रिया : केशव

१०- कामसूत्र : "वात्स्यायन"

११- काव्य में रहस्यवाद : आचार्य रामचन्द्र शुक्ल

१२- काव्य निर्णय : आचार्य भिखारीदास, टीकाकार- महावीरप्रसाद-
मालवीय, बेलवेडियर प्रेस, सन् १९३७

१३- काव्य मीमांसा : राजशेखर

१४- काव्य और कला : जयशंकर प्रसाद

१५- गोस्वामी तुलसीदास : आचार्य रामचन्द्र शुक्ल

१६- घनानन्द ग्रन्थावली : सं० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, प्रसाद परिषद
की ओर से, संवत् २००७

१७- घनानन्द कवित्त : विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, वाणी वितान, ब्रह्मनाल,
बनारस

१८- चिन्तामणि भाग १ : आचार्य रामचन्द्र शुक्ल

१९- जायसी ग्रन्थावली : आचार्य रामचन्द्र शुक्ल

२०- ठाकुर ठसक : सम्पा०- लाला भगवानदीन, सा० सेवक कार्यालय,
काशी, सं०- १९८३

२१- त्रिशंकु : अज्ञेय

२२- तुलसी ग्रन्थावली : सं० रामचन्द्र शुक्ल, नागरी प्रचारिणी सभा,
काशी, सं०- २००४

२३- तुलसीदास : पं० रामनरेश शास्त्री

२४- दुलारे दोहावली : श्री दुलारेलाल भार्गव, गंगा पुस्तक माला कार्यालय,
लखनऊ, छठां संस्करण, सं०- १९९३ वि०

२५- देव और बिहारी : पं० कृष्णबिहारी मिश्र, गंगा पुस्तक माला,
लखनऊ

२६- पल्लव : पं० सुमित्रानन्दन पन्त

२७- पद्माकर ग्रन्थावली (पद्माभरण) : पद्माकर,
सम्पादक- विश्वनाथप्रसाद मिश्र, नागरी प्रचारिणी
सभा, वाराणसी

२८- प्रियप्रवास : अयोध्यासिंह उपाध्याय `हरिऔध`

२६- ब्रजभाषा साहित्य में नायिका भेद : प्रभुदयाल मीतल

३०- बिहारी का काव्य : हरिमोहन मालवीय, सरस्वती प्रकाशन मन्दिर, नया बैरहना, इलाहाबाद- ३

३१- बिहारी का नया मूल्यांकन : डा० बच्चन सिंह, हिन्दी प्रचारक पुस्तकालय, मानमन्दिर, वाराणसी, प्र०सं०- १६६०

३२- बिहारी : विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, वाणी वितान, ब्रह्मनाल,बनारस संवत् २००७

३३- बिहारी बोधिनी : टी०- लाला भगवानदीन, साहित्य सेवा सदन, चौखम्बा,बनारस, संवत् २००३

३४- बिहारी रत्नाकर : जगन्नाथदास रत्नाकर, गमाकर प्रकाशन, शिवाला, बनारस, सन् १६५१

३५- बिहारी की सतसई : पद्मसिंह शर्मा

३६- बिहारी और देव : लाला भगवानदीन, काशी, संवत् १६८३ वि०

३७- बिहारी संजीवनी : पद्मसिंह शर्मा

३८- बिहारी दर्शन : पं० लोकनाथ द्विवेदी गंगा पुस्तक माला कार्यालय, लखनऊ

३६- भट्ट निबन्धावली : श्री धनन्जय भट्ट 'सरल' हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग, १६४२

४०- भाषा भूषण : ब्रजरत्नदास, रामनारायण लाल पब्लिशर और बुकसेलर, इलाहाबाद, १६४१, तृ० सं०

४१: भारतेन्दु और अन्य सहयोगी कवि : डा० किशोरीलाल गुप्त, हिन्दी प्रचारक पुस्तकालय, बनारस, प्र०सं०- १६५६

४१-भ्रमरगीत : रामचन्द्र शुक्ल

४२- भिखारीदास ग्रन्थावली : आचार्य मिश्र

४३- भूषण ग्रन्थावली : देवव्रत शास्त्री, (टीकाकार-सम्पादन)
हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग

४४- मतिराम ग्रन्थावली : पं० कृष्णबिहारी मिश्र, गंगा पुस्तक माला,
लखनऊ, सं०- १६११

४५- मिश्र बन्धुविनोद : मिश्रबन्धु, गंगा पुस्तक माला कार्यालय,लखनऊ

४६- रस कुसुमाकर : प्रतापनारायण सिंह (ददुआ साहब) सन् १८६४

४७- रस- रहस्य : कुलपति मिश्र, कात्यायन,कुमार, बलदेवप्रसाद
मोहल्ला दानदार, पुरा, मुरादाबाद

४८- रसमंजरी : सं० कन्हैयालाल पोद्दार,जगन्नाथ शर्मा, मथुरा, सं०-२००४

४६- रसिकप्रिया सटीक : (टीका०) सरदार कविकृत, लखनऊ सन् १६११

५०- रसिकरसाल : पं० कुमारमणि शास्त्री, श्री द्वारकेश कवि मण्डल,
श्री विद्याविभाग, कांकरोली

५१- रसज्ञरंजन : महावीरप्रसाद द्विवेदी

५२- रसमीमांसा : श्री रामचन्द्र शुक्ल

५३- रामचरितमानस : तुलसीदास, गीताप्रेस,गोरखपुर, सं०- २००६

५४- रामचन्द्रिका : सं० लाला भगवानदीन, रामनारायण लाल,प्रयाग
सं०- २००४

५५- रामरसिकावली : रघुनाथ सिंह

५६- रीति स्वच्छन्द काव्यधारा : डा० कृष्णचन्द्र वर्मा, कैलाश पुस्तक
सदन, पोटनगर बाजार, ग्वालियर, प्र०सं०- १९६७
५७- रीति परम्परा के प्रमुख आचार्य : डा० सत्यदेव चौधरी,
साहित्यभवन लि०, इलाहाबाद, सन् १९५६
५८- रीतिकालीन कवियों की प्रेमव्यंजना : डा० बच्चन सिंह,
नागरी प्रचारिणी सभा, काशी, सं० २०१५
५९- रीति काव्य की भूमिका : डा० नगेन्द्र, जे०प० हाउस, दिल्ली, १९५३
६०- विवेचना : इलाचन्द्र जोशी
६१- व्यंगार्थ कौमुदी : प्रतापसाही, संवत् १९५७
६२- शब्दरसायन : देवकृत टीका
६३- शिवसिंह सरोज : डा० किशोरीलाल गुप्ता
६४- समालोचनादर्श : बिहारीदास रत्नाकर
६५- समालोचना समुच्चय : महावीरप्रसाद द्विवेदी
६६- स्वच्छन्द काव्यधारा : डा० कृष्णचन्द्र वर्मा
६७- साहित्य समालोचना : श्री रामकुमार वर्मा
६८- सुन्दर सतसई : सुन्दर प्रसाद भटनागर
६९- सुजान शतक : सम्पा०- टीका०- डा० किशोरीलाल गुप्त, मधु प्रकाशन
इलाहाबाद ।
७०- सुजानचरित : सूदन कवि, काशी नागरी प्रचारिणी सभा, सं०- १९८०
७१- सुजान रसखान : प्रतापनारायण मिश्र, प्र०सं०- १९६२ ई०
७२- सुन्दर विलास ? सुन्दरदास (रघुनाथदास, पुरुषोत्तमदास)

७३ - सुन्दरी सिन्दूर : डा० किशोरीलाल, साहित्य भवन, इलाहाबाद

७४ - सुन्दरी तिलक : मन्नालाल द्विज

७५ - सुखसागर तरंग(देव) सम्पादक बालदत्त मिश्र

७६ - सूरत मिश्र और उनका साहित्य : प्रो० डा० छोटेलाल गुप्त,
स्मृति प्रकाशन,१२४, शहराराबाद, इलाहाबाद

७७ - श्रीनिवास ग्रन्थावली ? श्रीकृष्णलाल (सम्पादक)

७८ - हरिश्चन्द्र चन्द्रिका : भारतेन्दु हरिश्चन्द्र, नागरी प्रचारिणीसभा,
काशी, सं० - २०१५

७९ - हिन्दी साहित्य का इतिहास ? डा० नगेन्द्र

८० - हिन्दी साहित्य का इतिहास : आचार्य रामचन्द्र शुक्ल;
नागरी प्रचारिणी सभा, काशी, सं० - २०१४

८१ - हिन्दी नवरत्न : मिश्रबन्धु, गंगा ग्रन्थागार, हैदराबाद

८२ - हिन्दी साहित्य उद्भव और विकास : डा० भगीरथ मिश्र और
रामबिहारी शुक्ल, हिन्दी भवन, जालन्धर और
इलाहाबाद, सन् १९५६

८३ - हिन्दी साहित्य का इतिहास : श्यामसुन्दरदास

(ख) हस्तलिखित ग्रन्थ

१ - काव्य सरोज : आचार्य श्रीपति

२ - काव्य विलास : प्रताप साहि

३ - रसिकप्रिया : केशवदास

४ - शब्दरसायन : देव

पत्र-पत्रिकाएं

सम्मेलन पत्रिका

भारती

वीणा

हिन्दुस्तानी एकेडेमी पत्रिका

साहित्य समालोचक

सरस्वती

माधुरी

हिन्दी अनुशीलन (धीरेन्द्र वर्मा विशेषांक)